व्यष्टि अर्थशास्त्र : एक परिचय

कक्षा 12 के लिए पाठ्यपुस्तक

सत्य पी. दास

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
मई 2003
चैत्र 1925
PD 40T DRH

ISBN 81-7450-166-5

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस श्री अरविंद मार्ग नई दिल्ली 110 016	108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे हेली एक्सटेंशन बनाशंकरी III इस्टेज बैंगलूर 560 085	नवजीवन ट्रस्ट भवन डाकघर नवजीवन अहमदाबाद 380 014	सी.डब्लू.सी. कैंपस निकट : धनकल बस स्टॉप पनिहटी, कोलकाता 700 114

प्रकाशन सहयोग

संपादन : दयाराम हरितश
उत्पादन : अतुल सक्सेना
आवरण : विनीत जोशी

रु. 30.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा नारायण प्रिंटर्स एवं बाइंडर्स D-6 सेक्टर 63, नोएडा-201301 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

उच्चतर माध्यमिक स्तर के शिक्षार्थियों के लिए तैयार की जा रही पाठ्यपुस्तकों की शृंखला की यह तीसरी कड़ी (कक्षा बारहवीं प्रथम सत्र) व्यष्टि अर्थशास्त्र के प्रारंभिक सिद्धांतों को प्रस्तुत कर रही है। यह पुस्तक स्कूल शिक्षा के राष्ट्रीय पाठ्यक्रम संरचना-2002 के आधार पर पुनर्रचित पाठ्यक्रम पर आधारित है।

माध्यमिक स्तर तक तो अर्थशास्त्र के विषय की जानकारी भी सामाजिक विज्ञान विषय के एक अंग के रूप में ही दी जा रही है। उच्चतर माध्यमिक स्तर पर ही इसे एक स्वतंत्र विषय के रूप में पढ़ाना आरंभ किया जाता है। इसी स्तर पर शिक्षार्थियों को विषय का विधिवत्-परिचय दिया जाना है। साथ ही उन्हें इस विषय की जटिलताओं और विश्लेषण विधि के परिशुद्ध स्वरूप की जानकारी भी दी जानी है। इसी दृष्टि से अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम को छः-छः महीनों के चार सत्रीय शिक्षणक्रमों में विभाजित किया गया है। इसीलिए कक्षा 11 तथा 12 के लिए दो-दो पुस्तकों की रचना की जा रही है। अतः कुल मिलाकर शिक्षार्थियों को चार पुस्तकों का अध्ययन करना है।

कक्षा 11 के प्रथम एवं द्वितीय सत्रों में क्रमशः प्रारंभिक सांख्यिकीय विधियों एवं भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषताओं, संरचना तथा समस्याओं की जानकारी दी जा रही है। कक्षा 12वीं के प्रथम सत्र में वर्तमान पुस्तक का प्रयोग होगा। यह व्यष्टिस्तरीय आर्थिक विश्लेषण के मूल सिद्धांतों से शिक्षार्थियों को परिचित कराएगी। इस पुस्तक का ध्येय परिवारों और उत्पादकों के व्यवहार की व्याख्या करना है। साथ ही, विद्यार्थियों को माँग, आपूर्ति, कीमत तथा बाजार व्यवस्था आदि मूलभूत अवधारणाओं की जानकारी भी दी जाएगी। समस्त अर्थव्यवस्था व्यापि अध्ययन **समष्टि अर्थशास्त्र** के सिद्धांतों के अंतर्गत कक्षा 12 के दूसरे सत्र में होगा।

इस पुस्तक की रचना में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और शिक्षण परिषद् को अनेक स्रोतों से योगदान एवं सहयोग प्राप्त हुआ है। मैं सबसे पहले तो पुस्तक के रचयिता के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने अपनी अनेक व्यस्तताओं और प्रतिबद्धताओं के रहते हुए भी इस पाठ्यपुस्तक के लेखन का कष्ट-साध्य कार्य करने का हमारा अनुरोध स्वीकार किया। मैं उन सभी विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तरीय शिक्षकों का भी हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने परिषद् द्वारा आयोजित कार्यशाला में भाग लेकर इस पुस्तक की विषयवस्तु एवं सामग्री को अंतिम स्वरूप प्रदान किया है।

पाठ्यक्रमों एवं शिक्षण सामग्री का विकास और परिमार्जन तो एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। इस पुस्तक को और सुधारने, सँवारने के लिए आप की टिप्पणियों और सुझावों का सदैव साभार स्वागत है।

जगमोहन सिंह राजपूत
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

मई 2003
नई दिल्ली

शिक्षार्थियों और शिक्षकों से

अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के उपविषय–व्यष्टि अर्थशास्त्र के प्रारंभिक तत्वों से जुड़ी यह रचना आपका स्वागत करती है। इस पुस्तक को हमने **व्यष्टि अर्थशास्त्र : एक परिचय** का नाम दिया है। यह शिक्षार्थियों को महाविद्यालय/विश्वविद्यालय स्तर पर अर्थशास्त्र के उच्च स्तरीय पाठ्यक्रमों का अध्ययन कर पाने योग्य बनाने में सहायक सिद्ध होगी।

हम यह मानकर नहीं चल रहे कि विद्यार्थियों को पहले से ही अर्थशास्त्र के विषय में कुछ जानकारी है–यदि हो तो कोई आपत्ति भी नहीं है। किंतु रेखाचित्र आदि बनाने की विधियों की जानकारी अवश्य हो–यह हमारा आग्रह भी है। यदि इस पुस्तक के पन्ने पलटकर देखें तो आपको अनेक प्रकार के रेखाचित्र दिखाई पड़ जाएंगे। इन सबको समझना आवश्यक होगा। इस पुस्तक में कुछ परिशिष्ट भी हैं (इनमें से कुछ को पहले ही पढ़–समझ लेना बहुत उपयोगी रहेगा, पुस्तक के सभी अध्यायों के ये चार विभाग हैं : मुख्य पाठ, शब्दावली, पाठ में समझाए गए मूल विचारों-सिद्धांतों का सारांश और अर्थशास्त्र और उससे जुड़े सामान्य महत्त्व के विषयों पर कुछ क्लिपें ! इनमे से कुछ क्लिप (Clip) तो तथ्यों या आंकड़ों/घटनाओं आदि पर आधारित हैं (शेष में संबद्ध मुद्दों पर मेरे अपने विचार ही है–आपका उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है)।

मैं अपने सभी सहयोगियों के सामने यह बात स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि परीक्षाओं आदि की दृष्टि से इन क्लिपों में सम्मिलित सामग्री पूरी तरह से "पाठ्यक्रम से बाहर" की सामग्री है। यही बात मैंने सभी क्लिपों पर "परीक्षा अनुपयोगी" की चिप्पी लगाकर भी स्पष्ट की है। "परीक्षा अनुपयोगी" का सीधा और स्पष्ट अर्थ यही है कि इन क्लिप को परीक्षाओं की दृष्टि से उपयोग में नहीं लाया जाए। यही बात परिशिष्टों एवं पाद्टिप्पणियों पर भी लागू रहेगी। फिर भी, पूरे आग्रह के साथ आपसे अनुरोध करूँगा कि आप इन क्लिपों को एक बार पढ़ें अवश्य। ये किसी न किसी रूप में पाठ्यसामग्री के मुख्य विचार को और अधिक स्पष्ट करने में उपयोगी अवश्य सिद्ध होंगी। आप कक्षा में इन क्लिपों की सामग्री को लेकर अपने छात्र-छात्राओं को चर्चा करने को उत्साहित करेंगे तो वे निश्चय ही आप द्वारा समझाए गए सिद्धांतों को और अच्छी तरह से समझ जाएंगे। फिर भी, यह बात तो शिक्षकों के विवेक पर ही छोड़नी पड़ेगी कि वे इन सामग्री का उपर्युक्त प्रयोग करना चाहेंगे या नहीं। "परीक्षा अनुपयोगी" क्लिपें केवल यही समझाने के लिए पुस्तक में सम्मिलित की गई हैं कि व्यष्टि अर्थशास्त्र के विचार केवल सैद्धांतिक नहीं–केवल किताबी बातें नहीं है–इनका हमारे वास्तविक जीवन से भी सरोकार रहता है। पाद्टिप्पणियों में कहीं मुख्य बात का पुष्टीकरण करने के लिए और टिप्पणियाँ दी गई हैं तो कहीं उदाहरणों का प्रयोग कर चर्चित विचार को और अधिक स्पष्ट किया गया है।

इस पुस्तक की भाषा या इसके रचना-विन्यास को लेकर भी हम कुछ स्पष्टीकरण करना चाहते हैं। प्रत्येक लेखक की अपनी-अपनी रचना-विधि होती है किंतु हम तो बातचीत के माध्यम से अपनी बात स्पष्ट करने के पक्षधर हैं। हमारा विचार है कि किसी पाठ्यपुस्तक में तो अवैयक्तिकता होनी ही नहीं चाहिए। इस पुस्तक में हम अनेक स्थानों पर 'आप' शब्द के प्रयोग द्वारा अपने सहयोगी शिक्षकों और छात्रों को चर्चा में पूरी-पूरी भागीदारी के लिए आमंत्रित भी करेंगे।

हमें आशा है कि आप इस पुस्तक के माध्यम से आर्थिक सिद्धांतों को समझ पाएँगे- यही नहीं, अपनी उस समझ का हमारे देश और विश्व के समक्ष उपस्थित सामाजिक आर्थिक मुद्दों पर अपनी चिन्तन प्रक्रिया का सूझबूझ पूर्वक प्रयोग कर सुविचारित मत सुनिश्चित करने में भी सक्षम हो पाएँगे। अन्य बातों के साथ-साथ अर्थशास्त्र आपको यह भी सिखाता है कि किसी समाज के सदस्य होने के नाते हमारे समक्ष जो जटिल समस्याएँ आ जाती हैं उन पर विचार कर उनके प्रति अपना दृष्टिकोण और व्यवहार किस प्रकार विकसित करें।

सत्य पी. दास

पाठ्यपुस्तक समीक्षा कार्यगोष्ठी के सदस्य

एस.पी. दास
आचार्य, अर्थशास्त्र
भारतीय सांख्यिकी संस्थान
नई दिल्ली

भवानी शंकर बागला (अनुवादक)
रीडर, अर्थशास्त्र
पी.जी.डी.ए.वी. महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

रमेश चन्द्र
रीडर (अवकाशप्राप्त) अर्थशास्त्र
सा.वि.मा.शि.वि.,
रा.शै.अनु.प्र. परिषद्
नई दिल्ली

कान्ता जोशी
पी.जी.टी., अर्थशास्त्र
रा.क.व. माध्यमिक विद्यालय-2
किदवई नगर, नई दिल्ली

ए.एस. गर्ग
उपप्राचार्य
राजकीय प्रतिभा विकास विद्यालय
सूरजमल विहार, दिल्ली

वीना गुप्ता
पी.जी.टी., अर्थशास्त्र
रा.क.व.मा. विद्यालय-1
सरोजनी नगर, नई दिल्ली

एन.सी.ई.आर.टी. संकाय

एम.वी. श्रीनिवासन (**समन्वयक**)
प्रवक्ता

गांधी जी का जंतर

तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आज़माओ :

जो सबसे गरीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानी क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा, जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा संदेह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

विषय सूची

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे,

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे,

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे,

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे,

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों,

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे,

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे,

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे, और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू सके।

विषय प्रवेश

विषय प्रवेश

अध्याय 1

1.1 अर्थव्यवस्था की केंद्रीय समस्याएँ

1.2 उत्पादन संभावना वक्र और अवसर लागत

1.3 व्यष्टि बनाम समष्टि अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र के विज्ञान के प्रारंभिक अध्ययन में आपका स्वागत है। जी हाँ, अर्थशास्त्र उसी भांति एक सामाजिक विज्ञान है जिस तरह से रसायन शास्त्र एक भौतिक विज्ञान कहलाता है। यह ठीक है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए हमें न किसी प्रकार के यंत्रादि से सुसज्जित प्रयोगशाला की आवश्यकता होती है और न ही परखनलियों की। भौतिक विज्ञान से हमें अपने चारों ओर के विश्व, सौर-मंडल तथा ग्रहों आदि की कार्य-विधि को समझने में सहायता मिलती है। उसी प्रकार अर्थशास्त्र हमें यह समझाता है कि किसी क्षेत्र, देश या फिर विश्व की अर्थव्यवस्था किस प्रकार से कार्य करती है। रसायन शास्त्र और भौतिक शास्त्र की भांति ही अर्थशास्त्र के अपने नियम या सिद्धांत होते हैं। इन्हीं सिद्धांतों की सहायता से हम यह विश्लेषण करते हैं कि कोई अर्थव्यवस्था किस प्रकार से अपने कार्यों का संपादन कर रही है।

फिर भी यह प्रश्न तो अभी बना ही हुआ है कि **अर्थशास्त्र आखिर है क्या?** या फिर **अर्थशास्त्र के अंतर्गत हम क्या अध्ययन करते हैं?** वैसे इसकी परिभाषा को लेकर सभी विद्वानों में पूरी तरह से एकमत विकसित नहीं हो पाया है, फिर भी हम यह तो समझ ही सकते हैं कि अर्थशास्त्र किन बातों की जानकारी प्रदान करता है। बहुत से विद्वान, जो निश्चित रूप से अर्थशास्त्री नहीं हैं, समझते हैं कि अर्थशास्त्र का सरोकार केवल रुपए पैसे से ही है। उनका विचार है कि रुपए कैसे कमाए जाएँ और इनको कैसे संभालकर रखा जाए या इनका प्रबंधन कैसे किया जाए आदि बातें ही अर्थशास्त्र के अध्ययन की विषय-

वस्तुएँ हैं। किंतु यह मत सही नहीं है। अर्थशास्त्र तो **दुर्लभता** की स्थिति में **चयन** करने से जुड़ा है। **दुर्लभता** और **चयन** के विचारों का अर्थशास्त्र में बहुत ही अधिक महत्त्व है। भले ही आगे के अध्यायों में हम बार-बार इन शब्दों का प्रयोग न करें पर उनमें जिन विचारों या नियमों-सिद्धांतों की चर्चा होगी उन सभी का **आधार** किसी न किसी रूप में **दुर्लभता** की स्थिति में **चयन** पर ही टिका हुआ है। वास्तव में **दुर्लभता** और **चयन** का संबंध अटूट होता है। यदि प्रचुरता होती—अर्थात् चीजें बहुत ही सुलभ होतीं, उनके अंबार लगे होते तो फिर चयन करने की समस्या ही कहाँ उठती। जिसे जो कुछ चाहिए होता वही उसे मिल जाता । समस्या तो उसी समय पैदा होती है जब अभाव हो या कमी हो। किंतु किसी काल्पनिक स्वर्ग में भले ही अभावों से मुक्ति मिल जाए पर वास्तविक संसार में तो हमें कमियों और दुर्लभताओं का सामना करना ही पड़ता है। इस पृथ्वी पर तो सबसे धनी व्यक्ति को भी दुर्लभता का सामना करना पड़ता है और वह भी चयन करने को बाध्य हो जाता है। और कुछ नहीं तो उसे समय का ही अभाव प्रतीत हो जाएगा, उसे लगेगा कि उसे बहुत से काम करने हैं और समय बहुत कम है। रतन टाटा भारत के एक अग्रणी उद्योगपति हैं। किसी भी दिन शाम 6 से 8 बजे के बीच उन्हें भी यह चुनाव तो करना पड़ ही जाता है कि वे अपने कार्यालय में ही काम करते रहें या किसी संगीत संध्या का आनंद उठाने चले जाएँ। आप परीक्षाओं के निकट अपनी ही अवस्था पर विचार करें कि कितने विषयों के पाठ्यक्रमों को पूरा करने और दोहराने की समस्या का सामना करना पड़ता है। क्या कभी समय की अधिकता की अनुभूति होती है? नहीं। हमेशा यही लगता है कि काश इस विषय के लिए एक दो दिन और मिल जाते। इसी तरह से विश्व के प्रत्येक देश में खाद्य-सामग्री, वस्त्रादि, रहने के लिए आवास शुद्ध वायु एवं पेयजल आदि की दुर्लभता की समस्या बनी रहती है। हाँ एक बात अवश्य है कि कहीं किसी चीज या सुविधा की दुर्लभता अधिक गंभीर है तो कहीं अन्य चीज़ की कमी अधिक अखरती है। मुख्य बात तो यही रहती है कि **अभाव है और इसी के कारण हमें 'चयन' करने को बाध्य होना पड़ता है।** इन्हीं चयन संबंधी समस्याओं से जुड़े व्यवहार का अध्ययन ही अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु है। यह चयन व्यवहार चाहे व्यक्तिगत स्तर पर हो, सामाजिक स्तर पर या फिर भले ही राष्ट्रीय अथवा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर। जहाँ भी चयन की समस्या से सामना होता है, वहीं **अर्थशास्त्र** का कोई न कोई नियम या सिद्धांत उपयोगी सिद्ध हो ही जाता है।

1.1 अर्थव्यवस्था की केंद्रीय समस्याएँ—क्या, कैसे और किसके लिए ?

किसी समय अवधि पर ध्यान दें तो प्रत्येक अर्थव्यवस्था कई प्रकार की चयन समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करती दिखाई देती है। उदाहरण के लिए वित्तीय वर्ष 1998-1999 में भारत में 713 लाख टन गेहूँ का उत्पादन हुआ था।[1] खाद्यान्न का उत्पादन पूरी तरह से वर्षा आदि ऐसे कारकों पर निर्भर रहता है जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता। यह उत्पादन स्तर आंशिक रूप से अनाज की खेती के लिए कितनी भूमि का प्रयोग किया गया है, कितनी मात्रा में रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग हुआ है और कितनी भूमि पर सिंचाई के लिए पर्याप्त जल की पूर्ति हो पाई है आदि बातों पर भी निर्भर रहता है। इन तीनों ही कारकों पर सरकारी नीतियों के साथ-साथ व्यक्तिगत स्तर पर चयन का भी गहरा प्रभाव रहता है। अतः भारत में किसी वर्ष में गेहूँ का कितना उत्पादन होगा, यह किसी सीमा तक कृषकों द्वारा

[1] *आर्थिक सर्वेक्षण 2000-2001, वित्त मंत्रालय, भारत सरकार।*

किए गए चयन संबंधी फैसलों पर भी निर्भर करेगा। उदाहरण के लिए कोई किसान यह फैसला करने को पूरी तरह से स्वतंत्र है कि वह अपनी भूमि पर गेहूँ की फसल उगाए या सूरजमुखी या चना या सरसों आदि। प्रत्येक वैकल्पिक फसल के लिए उर्वरकों और सिंचाई के लिए पानी की **आवश्यकता** का स्तर भी अलग-अलग होता है। इस प्रकार से एक फैसले के साथ ही अन्य कई फैसलों का निर्धारण हो जाता है, पर, मुख्य बात तो उगाई जाने वाली विभिन्न फसलों में से एक के चुनाव की ही है।

भारत में जैट सवारी वायुयानों का अभी निर्माण नहीं हो रहा, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि यहाँ वायुयान निर्माण की कोई सुविधाएँ ही नहीं हैं। यहाँ हेलीकॉप्टरों, छोटे प्रशिक्षण विमानों तथा कुछ किस्म के लडाकू विमानों का उत्पादन होता है।[2] यह भी एक **चयन** की समस्या है।[3]

चयन की समस्या यहीं तक सीमित नहीं रहती कि कोई देश किस वस्तु का उत्पादन करे। इसका एक अन्य पक्ष यह भी है कि किस विधि से उत्पादन किया जाए। सामान्यत: किसी भी वस्तु के उत्पादन की कई विधियाँ उपलब्ध होती हैं। उदाहरण के लिए–भारत में कृषि, संयुक्त राज्य अमेरीका, फ्रांस और जर्मनी जैसे देशों की तुलना में श्रम सघन तकनीकों के माध्यम से होती है।

अर्थव्यवस्था की दृष्टि से **किस व्यक्ति को कितना भुगतान किया जाए** यह प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यहाँ भी सभी रोजगारों में पारिश्रमिक का स्तर एक जैसा नहीं रहता। उदाहरणार्थ विभिन्न देशों के बीच तुलना करें तो एक ही रोजगार में लगे लोगों को एक समान आमदनी नहीं मिलती। उदाहरण के लिए भारत में 1990 के दशक के उत्तराद्‌र्ध में सरकार के प्रथम श्रेणी के अधिकारियों के नौकरी आरंभ करते समय वेतन डेढ़ से दो लाख रुपए प्रतिवर्ष थे। इसकी तुलना में भारत में ही औसत कंप्यूटर प्रोग्रामर को रु. 2.57 लाख प्रतिवर्ष मिल रहे थे।[4]

किसी भी अर्थव्यवस्था के समक्ष समस्याओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ये वर्ग हैं–**क्या**, **कैसे** और **किसके लिए** । ये सभी समस्याएँ दुर्लभता के कारण ही उत्पन्न होती हैं।

क्या उत्पादन किया जाए : किन वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन किया जाए? ये उत्पादन कितनी मात्रा में हों? उदाहरण के लिए वर्ष 1997-98 में भारतीय अर्थव्यवस्था में सीमेंट का उत्पादन 821 लाख टन था। यह 821 लाख टन ही क्यों रहा? केवल 400 लाख टन क्यों नहीं रह गया? उसी वर्ष में भारत में 98 लाख साइकिलों का उत्पादन भी

---

[2] *इनका उत्पादन हिन्दुस्तान ऐयरोनॉटिक्स लिमिटिड (HAL) करता है। इनके चित्रों और इनके बारे में सही जानकारी के लिए मेरा सुझाव है कि आप HAL की website: www.hal-india.com को अवश्य देखें।*

[3] *यह तर्क दिया जा सकता है कि भारत को संभवत: जैट वायुयानों का निर्माण करने की टेक्नोलॉज़ी सुलभ नहीं हो पाई है। किन्तु किसी टेक्नोलॉजी को प्राप्त करें या नहीं यह भी चयन का ही एक उदाहरण है। अधिकांशत: टेक्नोलॉज़ी प्राप्त करने का सीधा-सा रास्ता है कि उसकी कीमत चुका कर खरीदारी कर ली जाए। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जो भी टेक्नोलॉज़ी बिकाऊ हो उसे खरीद ही लिया जाए। हमें यह भी देखना पड़ेगा कि उस खरीदारी से संभव हित लाभों और उसकी लागतों के बीच क्या संबंध होगा। दूसरे शब्दों में, हमें टेक्नोलॉज़ी से संभावित लाभ को उसके लिए चुकाई गई कीमत से तुलना करने के बाद ही कोई फैसला करना उचित होगा।*

[4] *देखें Tech Week, सितंबर 20, 1999 में ऐड. फ्रायनहेम का लेख "इन्डिया इनकॉर्प"। इसे पत्रिका की website www.techweek.com पर देखें । इस लेख में कंप्यूटर प्रोग्रामरों का औसत वेतन 6000 अमेरीकी डालर बताया गया है। उस समय एक डालर का भारतीय रुपयों में मान 43 था। इसी आधार पर यह रु. 2.57 लाख के आँकड़ा आंकलित किया गया है।*

हुआ।[5] विभिन्न उत्पादनों की इन मात्राओं का निर्धारण किन कारकों के आधार पर होता है? इन सभी प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक होगा।[6]

कैसे उत्पादन किया जाए : वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन किन विधियों से किया जाए? क्या भारत में परिधानों का उत्पादन श्रम प्रधान तकनीकों द्वारा ही हो अथवा यहाँ भी इस उद्योग में मशीन प्रधान तरीकों का प्रयोग शुरू होना चाहिए? कुल मिलाकर प्रश्न यही रहता है कि विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के लिए कैसी तकनीकों का प्रयोग किया जाए।

किसके लिए उत्पादन हो : बात उत्पादन कर लेने पर ही खत्म नहीं हो जाती। उस उत्पादन के समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच बंटवारे का प्रश्न अभी बाकी रहता है। किस वस्तु की कितनी मात्रा किस व्यक्ति को उपभोग के लिए मिलेगी? इसका सीधा-सा संबंध इसी बात से है कि कौन कितनी आय कमाता है तथा किसके पास कितनी ज्यादा परिसंपत्तियाँ हैं। उदाहरण के लिए, एक कंप्यूटर इंजीनियर किसी रसायन इंजीनियर से या फिर विद्यालय शिक्षक से कितना अधिक कमाएगा? यही प्रश्न है जिसे हम **किसके लिए उत्पादन** किया जाए से जोड़ते हैं? दूसरे शब्दों में यह समाज की आय और संपत्ति के विभाजन से जुड़ा प्रश्न है। जिसे हम **किसके लिए उत्पादन** किया जाए से जोड़ते हैं? दूसरे शब्दों में यह समाज की आय और संपत्ति के विभाजन से संबंधित है।

बाजारोन्मुखी (बाजार पर आधारित) अर्थव्यवस्था अथवा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में इन सभी मूलभूत समस्याओं का समाधान बाजार या कीमत निर्धारण प्रणाली द्वारा हो जाता है। प्रत्येक वस्तु और सेवा के लिए बाजार में कोई न कोई कीमत निर्धारित होती है। यह कीमत निर्धारण उस वस्तु की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए भारत में आलू भुजिया का उत्पादन क्यों होता है? क्योंकि एक तो यहाँ उसके उत्पादन के लिए उपयुक्त प्रोद्योगिकी साधन उपलब्ध हैं। दूसरे, उत्पादन व उसके वितरण की लागतें बहुत अधिक नहीं रहती। तीसरे, इस आलू भुजिया के लिए माँग भी है। यह उदाहरण बहुत ही संक्षेप में बाजारोन्मुखी अर्थव्यवस्था द्वारा **क्या** (उत्पादन किया जाए) की समस्या के समाधान को स्पष्ट कर देता है।

यदि किसी कारण से विश्व में तेल का उत्पादन बहुत ही कम हो जाए तो इसके क्या प्रभाव होंगे? इस कारण विश्व बाजारों में डीज़ल और पैट्रोल की कीमतों में वृद्धि हो जाएगी। हो सकता है कि लुधियाना की टैक्सियाँ चलाने वाली कोई कंपनी इससे प्रभावित होकर अपनी कुछ टैक्सियों को संपीड़ित प्राकृतिक गैस (CNG) से चलाने के लिए आवश्यक फेर-बदल करने का विचार करे (यदि CNG के दाम स्थिर रहें)। दूसरे शब्दों में, टैक्सी सेवा के **उत्पादन** की विधि में कुछ परिवर्तन आ जाएगा। यह उदाहरण **कैसे** (उत्पादन हो) की समस्या के समाधान को स्पष्ट करता है।

एक और उदाहरण पर ध्यान दें। व्यावसायिक और घरेलू प्रयोग में कंप्यूटरों और कंप्यूटर प्रोग्रामों के प्रयोग में उछाल आने से कंप्यूटर इंजीनियरों की सेवाओं की माँग में वृद्धि होगी तो उसके परिणामस्वरूप उनके वेतनमानों, अर्थात् उनकी सेवाओं की कीमतों में भी बढ़ोतरी हो जाएगी। इन इंजीनियरों की क्रय शक्ति में वृद्धि होगी। इनकी आय और संपत्तियाँ पहले से अधिक हो जाएँगी और ये पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुओं और सेवाओं की खरीदारी करने में समर्थ हो जाएँगे। यह उदाहरण है समय के साथ **किसके लिए** (उत्पादन हो) की समस्या के समाधान में आने वाले परिवर्तन का है।

[5] *वित्त मंत्रालय, आर्थिक सर्वेक्षण 2000-2001, प्रकाशन वर्ष 2001।*

[6] *ये दोनों उदाहरण उन वस्तुओं के हैं जिनके भौतिक आकार एवं आयामों को समझा जा सकता है। सेवाओं के विषय में तो एक और प्रश्न भी उठ खड़ा होता है–ये तो किसी द्वारा किए गए 'कार्य' की सूचक हैं, जैसे, नाई द्वारा किसी के बाल सँवारना या डाक्टर द्वारा किसी को सलाह देना। क्या और कितना उत्पादन किया जाए, ये प्रश्न सेवाओं पर भी लागू होते हैं।*

हम अगले अध्यायों में बाजार पर आधारित अर्थव्यवस्था में इन केंद्रीय समस्याओं की समाधान विधि का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

वैसे इन समस्याओं के अधिक सीधे (प्रत्यक्ष) तरीके से समाधान भी संभव हैं। 1970 के दशक तक पूर्वी यूरोपीय तथा सोवियत संघ आदि देशों में प्रचलित केंद्रीय आर्थिक आयोजन व्यवस्था के माध्यम से इन सभी समस्याओं का समाधान वहाँ की सरकारें करती थी।[7] इसका विवरण क्लिप 1.1 में दिया जा रहा है। बाजार व्यवस्था की तुलना में केंद्रीय आयोजन व्यवस्था की त्रुटियों का ब्यौरा हम क्लिप 1.2 में दे रहें हैं।

क्लिप 1-1

केंद्रीय योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था (परीक्षा अनुपयोगी)

केंद्रीय रूप से अर्थव्यवस्था में सरकार के ही एक विभाग के रूप में एक केंद्रीय योजना प्राधिकरण या आयोग गठित किया जाता है। यही विभाग तय करता है कि देश में किसी निश्चित अवधि (एक वर्ष या पाँच वर्ष) में किन वस्तुओं का और कितना उत्पादन और उपभोग किया जाएगा। उत्पादन और उपभोग के ये पूर्व निर्धारित स्तर 'लक्ष्यों' की भांति होते हैं। आयोजन अधिकारी देश में समग्र रूप से वांछनीय संवृद्धि और विकास युक्ति का निर्धारण कर उसके अनुरूप उत्पादन और उपभोग आदि के लक्ष्यों का निर्धारण करते हैं। कुल उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित करके उसे विभिन्न कारखानों के बीच बाँट दिया जाता है। यह तय कर दिया जाता है कि उस कुल उत्पादन में किस कारखाने का कितना अंशदान होगा। एक और बात पर ध्यान दें कि किसी एक वस्तु (साइकिल) के उत्पादन के लिए कई और चीजों की जरूरत होती है (जैसे इस्पात, रबड़ आदि)। इन अन्य चीजों का उत्पादन और अनेक चीजों के प्रयोग पर निर्भर रहता है। इस प्रकार 'क्या' (उत्पादन हो) की समस्या का समाधान करने वाली केंद्रीय प्रायोजन व्यवस्था एक साथ समन्वित रूप से हजारों वस्तुओं के उत्पादन संबंधी निर्णयों से बंधी विराट प्रक्रिया का रूप धारण कर लेती है। सरकार द्वारा 'प्रत्यक्ष' रूप से 'क्या' के प्रश्न के समाधान की यही विधि रही है। प्रत्यक्ष होते हुए भी इसे बहुत 'आसान' मान लेना उचित नहीं होगा।

'कैसे' (उत्पादन हो) की समस्या के समाधान का आधार यही है कि सभी कारखाने सरकारी हैं और उत्पादन विधि के विषय में जो निर्णय योजना आयोग कर ले उन्हें उन्हीं का पालन करना होता है। यही है 'कैसे' के प्रश्न का सरकारी समाधान।

सभी संपत्तियों पर सरकार का अधिकार होता है। सरकार ही सभी प्रकार की योग्यताओं और कौशल आदि से संपन्न लोगों के वेतन आदि निर्धारित करती है। इस प्रकार से 'किसके लिए' का प्रश्न भी सरकार द्वारा हां निपटा दिया जाता है। दूसरे शब्दों में सभी केंद्रीय समस्याओं का सरकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अपने आदेश जारी करने के अधिकार का प्रयोग कर 'समाधान' कर दिया जाता है। इसीलिए केंद्रीय प्रायोजित अर्थव्यवस्थाओं का दूसरा नाम '**निदेशित अर्थव्यवस्था**' अर्थात् सरकारी निर्देशों पर आश्रित अर्थव्यवस्था भी है।

---

[7] *वैसे वास्तव में विश्व में कोई भी अर्थव्यवस्था शत-प्रतिशत रूप से न तो बाजारोन्मुखी होती है और न ही केंद्रीय रूप से आयोजित। सामान्यत: बाजार की शक्तियों और सरकार के नियमन का मिलाजुला रूप दिखाई पड़ता है। यदि दोनों का योगदान समान प्राय: हो फिर हम अर्थव्यवस्था को मिश्रित अर्थव्यवस्था का नाम दे देते हैं। यदि सरकारी या सार्वजनिक क्षेत्र की गतिविधियाँ प्रधान हों तो उस अर्थव्यवस्था को केंद्रीय आयोजन वाली अर्थव्यवस्था कहा जाता है (उदाहरण : पूर्व सोवियत संघ)। जिन देशों में निजी क्षेत्र के क्रियाकलापों की प्रधानता हो उन्हें हम बाजारोन्मुखी या बाजार पर आश्रित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था कहते हैं (उदाहरण : संयुक्त राज्य अमेरीका, जापान)।*

भारतीय अर्थव्यवस्था 1970 के दशक तक तो पूरी तरह से मिश्रित अर्थव्यवस्था ही थी, पर उसके बाद से यह धीरे-धीरे बाजारोन्मुखी स्वरूप धारण कर रही है। आज यह 1960 और 1970 के दशकों की तुलना में बहुत कम नियंत्रित रह गई है। अत: निजी फर्में बहुत 'उदारतापूर्ण' वातावरण में काम कर रही हैं।

1.2 उत्पादन संभावना वक्र और अवसर लागत

अब अर्थशास्त्र और अर्थव्यवस्था की कार्यविधि के विषय में सामान्य चर्चा से कुछ आगे बढ़कर किन्हीं विशेष मुद्दों पर विशलेषणात्मक दृष्टि से विचार आरंभ कर रहे हैं। हमारी यह चर्चा आने वाले अध्यायों के आर्थिक विवेचन की पूर्व-झलक की तरह भी काम करेगी।

मान लो कि उत्तर प्रदेश के किसी गाँव के एक किसान खेती लाल के पास 50 एकड़ कृषि भूमि है। वह इस पर गेहूँ या गन्ना या फिर दोनों की खेती कर सकता है। मान लो कि उत्पादन की तकनीक कुछ इस प्रकार की है कि एक एकड़ भूमि पर 2.5 टन गेहूँ या फिर 80 टन गन्ने का उत्पादन हो सकता है। खेती लाल कितनी भूमि पर गेहूँ और कितनी पर गन्ने की खेती करेगा ?

एक स्वाभाविक विधि तो यही होगी कि उत्पादन की तकनीकों और उस किसान के पास उपलब्ध भू-क्षेत्र के आधार पर यह तय कर लिया जाए कि वह गेहूँ और गन्ने के किन-किन संयोजनों का उत्पादन कर पाने में समर्थ है। इसके बाद गेहूँ और गन्ने से होने वाले लाभों का आकलन कर यह जाना जा सकता है कि कौन-सा संयोजन सबसे अच्छा रहेगा। इस समय हमारा ध्येय सबसे अच्छे उत्पादन संयोजन का निर्धारण नहीं है। अभी तो हम केवल उन सभी संयोजनों का आकलन करना चाहते हैं जिन्हें उत्पादित कर पाना खेती लाल के लिए संभव है।

यदि खेती लाल अपनी सारी भूमि पर गेहूँ की फसल उगाए तो वह 125 टन गेहूँ का उत्पादन कर लेगा। हाँ इस स्थिति में गन्ने का उत्पादन शून्य रहेगा। दूसरी ओर यदि उसने सारे भू-क्षेत्र पर गन्ना ही उगाया होता तो वह 4000 टन गन्ना उत्पादित कर लेता, किंतु, उसका गेहूँ का उत्पादन शून्य रहता इनके अतिरिक्त और भी अनेक संभावनाएँ हैं। यदि वह 30 एकड़ पर गेहूँ और 20 एकड़ पर गन्ना उगाए तो 75 टन गेहूँ और 1600 टन गन्ने का उत्पादन होगा। यहाँ सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण बात यही है कि यदि खेती लाल अपनी सारी भूमि का प्रयोग कर रहा हो तो फिर गन्ने का अधिक उत्पादन करने के लिए उन्हें गेहूँ के उत्पादन में कमी सहन करनी ही पड़ेगी। यही बात समूची अर्थव्यवस्था पर भी लागू होती है, चाहे वह बाजार पर आश्रित हो या नहीं।

किसी भी समय बिंदु पर देखा जाए तो विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन की प्रोद्योगिकी और समाज के संसाधनों की उपलब्ध मात्राएँ निश्चित ही होती हैं। इन संसाधनों में कार्यरत जनसंख्या, भूमि, भवन, यंत्र-संयंत्र आदि सभी कुछ सम्मिलित हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि अर्थव्यवस्था किसी भी वस्तु या सेवा का अपरिमित मात्रा में उत्पादन नहीं कर सकती। यदि सारे संसाधनों का प्रयोग कंप्यूटरों के निर्माण के लिए ही किया जाए तो यह अर्थव्यवस्था कंप्यूटरों की किसी एक निश्चित संख्या का ही उत्पादन कर पाएगी। विभिन्न उद्योगों के बीच संसाधनों के किसी भी आबंटन से आरंभ कर यदि हम एक उद्योग में (मान लो कंप्यूटर उद्योग) अधिक संसाधनों का प्रयोग करना चाहें तो हमारे पास अन्य उद्योगों के लिए उपलब्ध संसाधनों की मात्रा कम रह जाएगी। अर्थव्यवस्था के लिए सबसे उपयुक्त उत्पादन संयोजन का निर्णय करने से पूर्व हमें यह जान लेना चाहिए कि कौन से संयोजन उपलब्ध हो सकते हैं। जैसे कि खेती लाल के लिए यह जान लेना अनिवार्य है कि वह गन्ना और गेहूँ के किन संयोजनों का उत्पादन कर पाने में समर्थ है। यही तथ्य हम उत्पादन संभावना वक्र की अवधारणा द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। आइए इस उत्पादन संभावना वक्र की परिभाषा और रचना विधि पर विचार करें।

एक काल्पनिक अर्थव्यवस्था पर विचार करें। इसमें केवल दो वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है : क्रिकेट के बल्ले और साड़ियाँ। हम यह भी मान रहे हैं कि सभी क्रिकेट बल्लों की गुणवत्ता (quality) एक समान है। इसी प्रकार सभी साड़ियाँ भी एक जैसी ही हैं। यदि इस अर्थव्यवस्था के सारे संसाधनों (जैसे कि भूमि, कुशल और अकुशल श्रमिक आदि) का साड़ी उद्योग में दक्षतापूर्वक प्रयोग किया जाए तो वर्ष भर में 75 लाख साड़ियों का उत्पादन संभव है। हम यह भी मान लेते हैं कि इन्हीं संसाधनों के प्रयोग से क्रिकेट के बल्ले भी बनाए जा सकते हैं। मान लो कि सभी संसाधनों का केवल बल्ले बनाने में प्रयोग किया जाए तो 5000 बल्लों का निर्माण संभव हो सकता है। ये दोनों उत्पादन स्तर तो अपने-अपने क्षेत्रक या उद्योग के चरम उत्पादन को दर्शाते हैं। इनकी मध्यवर्ती संभावनाएँ अनेक हैं और उन्हीं में से किसी एक पर वास्तव में उत्पादन होने की संभावना भी अधिक रहती है। उदाहरण के लिए समाज 50 लाख साड़ियाँ और 3000 बल्लों का उत्पादन भी कर सकता है।

अर्थव्यवस्था में संभावित उत्पादन संभावनाएँ (संयोजन) हम तालिका 1.1 में दिखा रहे हैं। आप को यह देखकर शायद ही आश्चर्य हो कि एक वस्तु का उत्पादन बढ़ने पर दूसरी के उत्पादन में कमी अवश्य आ जाती है। इसका कारण साधनों की दुर्लभता ही है। यदि एक उद्योग में उत्पादन अधिक करने के लिए उसमें संसाधनों की अधिक मात्रा का प्रयोग किया जाता है तो परिणामस्वरूप दूसरे उद्योग के लिए पहले की तुलना में कम संसाधन बचे रहते हैं। वहाँ प्रयुक्त संसाधनों में कमी आने से उस क्षेत्र का उत्पादन भी कम रह जाता है।

तालिका 1.1

उत्पादन संभावनाएँ

संभावना	क्रिकेट के बल्ले (हजारों में)	साड़ियाँ (लाखों में)
A	0	75
B	1	70
C	2	62
D	3	50
E	4	30
F	5	0

आइए अब इन संभावना संयोजनों A (0,75), B(1, 70)... आदि को एक रेखाचित्र में अंकित करें। इनके बिंदुओं को रेखा-खंडों द्वारा जोड़ दिया जाता है। इससे चित्र 1.1(क) में दिखाए गए वक्र की रचना हो जाती है (अभी हम चित्र के भाग (ख) पर ध्यान नहीं दे रहे)। हमने क्रिकेट के बल्लों की उत्पादित संख्या को X-अक्ष पर दिखाया है तथा साड़ियों की उत्पादित संख्या Y-अक्ष पर दिखाई है। हमारी काल्पनिक अर्थव्यवस्था के संभावित उत्पादन बिंदुओं को मिलाने वाली रेखा या वक्र ही इसकी उत्पादन संभावना वक्र है।[8] यदि हम और अधिक **वास्तविकतापूर्ण** अर्थव्यवस्था की रचना करें तो फिर उत्पादन की संभावनाएँ केवल 6 नहीं रहेंगी, ऐसे और बहुत से संयोजनों का उत्पादन संभव हो जाएगा। उस दशा में हम और बहुत से उत्पादन संभावना बिंदुओं को अंकित कर उन्हें छोटे-छोटे रेखा-खंडों के माध्यम से जोड़ पाएँगे। इस प्रकार बनने वाला उत्पादन संभावना वक्र चित्र 1.1(ख) में दिखाया गया है। यह पहले चित्र की तुलना में अधिक हमवार है (इसके रेखा-खंड बहुत छोटे-छोटे हैं) इसके टुकड़े भी छोटे-छोटे होने

[8] रेखाचित्रांकन, बिंदुओं को मिलाकर वक्र बनाने आदि की जानकारी परिशिष्ट-I में दी गई है।।

के नाते यह वक्र अधिक निष्कोण दिखाई देता है। केवल दो वस्तुएँ उत्पादित करने वाली अर्थव्यवस्था के संदर्भ में इस विचार की परिभाषा कुछ इस प्रकार रहती है : उत्पादन संभावना वक्र दो वस्तुओं के उन सभी संभव उत्पादन संयोजनों को दर्शाता है जिनका उत्पादन करने में वर्तमान तकनीकी ज्ञान और उपलब्ध संसाधनों का कुशल एवं पूर्ण प्रयोग करते हुए समाज सफल रहता है। इसी विचार का एक समतुल्य स्वरूप यह भी है : एक वस्तु के पूर्वनिर्धारित स्तरों पर उत्पादन होने की दशा में दूसरी वस्तु के अधिकतम संभव उत्पादन को दर्शाने वाली रेखा ही उत्पादन संभावना वक्र है। यह वक्र सामान्यतः दाहिनी ओर ढालू होता है।[9] इसका ढाल दाहिनी ओर बढ़ने पर और अधिक हो जाता है। इस विशेषता का कारण या आधार यही है कि एक वस्तु के अधिक उत्पादन स्तर के साथ दूसरी वस्तु का कम उत्पादन ही जुड़ा रहता है।

एक बात अवश्य ध्यान रखें : उत्पादन संभावना वक्र हमें यह बिलकुल नहीं बता पाता कि अर्थव्यवस्था वास्तव में किस बिंदु विशेष पर कार्य करेगी। यह तो केवल इतना बताता है कि संभावित संयोजन क्या हैं। हो सकता है कि वास्तव में अर्थव्यवस्था इन संयोजनों में से किसी पर भी कार्य न करे। यदि भारत जैसे देशों की बात करें जहाँ बेरोजगारी की समस्या काफी गंभीर बनी हुई है, या फिर जहाँ संसाधनों की **कार्य कुशलता** को लेकर संदेह बने रहते हैं, या श्रमिक वर्ग बार-बार हड़ताल करता रहता है, तो फिर अर्थव्यवस्था अपनी उत्पादन संभावना वक्र के किसी भी बिंदु पर कार्य (निष्पादन) नहीं कर पाती। इन दशाओं में यह किसी आंतरिक बिंदु पर कार्य कर रही होगी। हमारे चित्र 1.1 के भाग (ख) में इस संभावना को G बिंदु द्वारा दिखाया गया है। हाँ यह बात तो परिभाषा से ही स्पष्ट हो जाती है कि अर्थव्यवस्था H बिंदु जैसे किसी बाह्य (बाहरी) बिंदु पर कार्य नहीं कर सकती। यह बिंदु तो इसकी सभी संभावनाओं से (अथवा पहुँच से) परे है। यदि हमें कह दिया जाए कि अर्थव्यवस्था अपनी उत्पादन संभावना सीमा वक्र
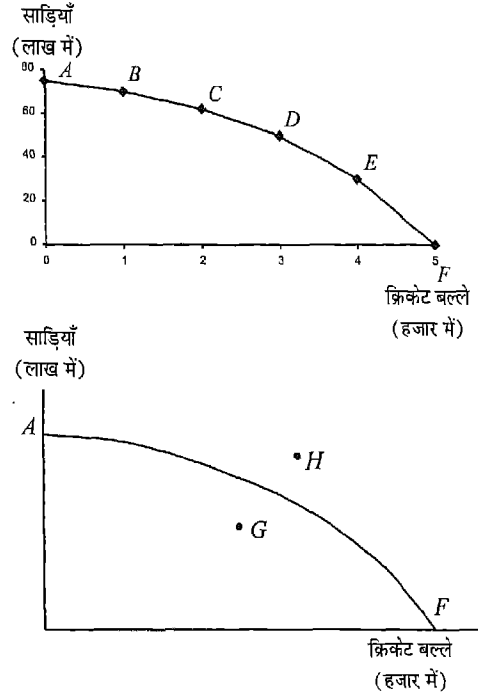
चित्र 1.1 : उत्पादन संभावना वक्र

पर ही कार्य कर रही है, तो भी हम एकदम से यह निर्णय नहीं कर पाएँगे कि वह किस बिंदु विशेष पर होगी। इसके लिए तो हमें अतिरिक्त जानकारियों की आवश्यकता पड़ेगी। यह जानकारी अर्थव्यवस्था के सदस्य व्यक्तियों की उपभोग संबंधी प्राथमिकताओं और अभिरुचियों आदि से संबंधित होती है।

एक बात और, हमने भले ही दो वस्तुओं का उदाहरण प्रयोग करते हुए इस उत्पादन संभावना वक्र की रचना की है। किंतु इसकी अवधारणा या आधारभूत

---

9. 'दाहिनी ओर ढलवा' का अर्थ परिशिष्ट-I में समझाया गया है।

विचार केवल दो वस्तुओं का आश्रित नहीं है। वास्तव में हम इस विचार को कितनी ही वस्तुओं के संभावित संयोजनों पर लागू कर सकते हैं। वे सभी संयोजन किसी भी समय बिंदु पर अर्थव्यवस्था की अधिकतम उत्पादन कर पाने की क्षमताओं को दर्शाते हैं।

1.2.1 सीमांत अवसर लागत, वृद्धिमान सीमांत अवसर लागत तथा उत्पादन संभावना वक्र का आकार

यह तो हम जानते ही हैं कि किसी उत्पादन संभावना वक्र (PPC) पर कार्य करते हुए एक वस्तु का उत्पादन बढ़ाने का अर्थ होगा दूसरी के उत्पादन में कमी करना। इसी दूसरी वस्तु के उत्पादन की कमी या **त्याग** की दर को पहली वस्तु की उत्पादन वृद्धि की सीमांत अवसर लागत कहा जाता है। एक बार फिर तालिका 1.1 पर विचार करें। मान लो कि शुरू में हम B बिंदु पर हैं। क्रिकेट के बल्लों का एक इकाई अतिरिक्त उत्पादन करने के लिए 70 - 62 = 8 लाख साड़ियों का उत्पादन कम करना पड़ेगा। अत: बिंदु C पर क्रिकेट बल्लों की सीमांत उत्पादन लागत होगी 8 लाख साड़ियाँ। इसी प्रकार 3 हजार बल्लों की सीमांत अवसर लागत 12 लाख साड़ियाँ होगी। अत: हम कह सकते हैं कि सामान्यत: उत्पादन संभावना वक्र (PPC) पर रहते हुए एक वस्तु के उत्पादन में एक इकाई की वृद्धि के कारण दूसरी वस्तु की उत्पादित इकाईयों में आई कमी को पहली वस्तु की उत्पादन वृद्धि की सीमांत अवसर लागत कहा जाता है।

एक बात और ध्यान रखें– सीमांत का अर्थ है अतिरिक्त। यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण आर्थिक अवधारणा है। आगे के अध्यायों में हम बार-बार इस विचार का प्रयोग करेंगे।

तालिका 1.2 वस्तुत: तालिका 1.1 का ही परिवर्धित रूप है। इसमें क्रिकेट बल्लों की सीमांत अवसर लागत भी अलग से आकलित कर प्रदर्शित कर दी गई है। ज़रा-सा ध्यान देते ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि जैसे-जैसे बल्लों का उत्पादन बढ़ाया जाता है, उनकी सीमांत उत्पादन लागत 5 से 8, 8 से 12...बढ़ती जाती है। इन्हीं आंकड़ों को हमने तालिका 1.2 के तीसरे स्तंभ में दिखाया है। इस वृद्धि का क्या कारण हो सकता है? आर्थिक कारण तो यही है कि जैसे-जैसे हम किसी वस्तु का उत्पादन बढ़ाते हैं, उसके निर्माण में लगाए जा रहे संसाधनों की कार्य कुशलता में धीरे-धीरे (सीमांत रूप से) कमी आने लगती है। इसी कारण से हमें दूसरी वस्तु के उत्पादन में लगे साधनों की और अधिक मात्रा को वहाँ से हटा कर वृद्धिमान उत्पादन वाले उद्योग में लगाना पड़ता है। इसीलिए प्रत्येक अतिरिक्त उत्पादित बल्ले के लिए पहले की अपेक्षा अधिक साड़ियों के उत्पादन का त्याग करना आवश्यक हो जाता है।

इसी वृद्धिमान सीमांत अवसर लागत के कारण हमारी उत्पादन संभावना वक्र का आकार अक्ष केंद्र की ओर अवनतोदर (तथा बाहर की ओर उन्नतोदर) हो जाता है। दूसरी ओर यदि सीमांत अवसर लागत में निरंतर कमी आ रही तो उत्पादन संभावना वक्र का स्वरूप भी बदल जाता है फिर तो यह ऊपर की ओर अवनतोदर तथा अक्ष केंद्र की ओर उन्नतोदर हो जाती। यदि सीमांत अवसर लागत में न वृद्धि हो और न ही कमी आए तो फिर उत्पादन संभावना वक्र का ढाल भी स्थिर रहता है। यह दाहिनी ओर ढलवाँ सरल रेखा बन जाती है। इसके एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण उदाहरण के बारे में हम अध्याय-8 में चर्चा करेंगे। सामान्यत: उत्पादन संभावना वक्र पर कार्य करते हुए अर्थव्यवस्थाओं को एक वस्तु के उत्पादन में निरंतर वृद्धि करने पर दूसरी वस्तु की अधिक से अधिक इकाइयों का त्याग करने को बाध्य होना पड़ता है। इसी कारण हम कहते हैं कि उत्पादन संभावना वक्र का सामान्य स्वरूप अक्ष केंद्र की ओर अवनतोदर तथा बाहर की ओर उन्नतोदर होता है।

तालिका 1.2
उत्पादन संभावना वक्र पर
कार्य करते हुए सीमांत अवसर लागत

क्रिकेट बल्लों का उत्पादन (हजारों में)	साड़ियों का उत्पादन (लाखों में)	साड़ियों के रूप में बल्लों की सीमांत अवसर लागत
0	75	–
1	70	5
2	62	8
3	50	12
4	30	20
5	0	30

1.2.2 अवसर लागत–एक अधिक व्यापक अवधारणा

अवसर लागत का विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रयोग बहुत ही व्यापक और विविध संदर्भों में किया जाता है। यह केवल उत्पादन संभावना वक्र तक सीमित नहीं रहता। सामान्यत: हम किसी गतिविधि की अवसर लागत की परिभाषा उसके सर्वोत्तम अथवा निकटतम विकल्प के मूल्यमान के रूप में करते हैं। यह उदाहरण इस विचार को और अधिक स्पष्ट कर सकता है–मान लेते हैं कि आप नई दिल्ली में अपना चिकित्सालय चला रहे एक डॉक्टर हैं। यहाँ आप की वार्षिक आय 8 लाख रुपए है। आपके सामने और विकल्प है। आप अपना चिकित्सालय बंद करके दिल्ली के किसी सरकारी अस्पताल में काम कर सकते हैं, पर यहाँ आपको प्रतिवर्ष 4 लाख रुपए ही मिल पाएँगे। यदि आप चाहें तो अपने मूल नगर मुम्बई में जाकर वहाँ अपना चिकित्सालय स्थापित कर सकते हैं, पर वहाँ आप केवल 3 लाख रुपए प्रतिवर्ष कमा पाएँगे। अत: आपके नई दिल्ली के चिकित्सालय की अवसर लागत 4 लाख रुपए होगी, यानि, वह कमाई जो आपको सरकारी अस्पताल में काम करने पर प्राप्त हो सकती थी। यही निकटतम संभव विकल्प है। अन्य विकल्प इससे भी घटिया हैं।

जब हम उत्पादन संभावना वक्र की चर्चा कर रहे हों, तो हम केवल दो वस्तुओं की बात करते हैं। इसीलिए एक वस्तु के अतिरिक्त उत्पादन की अवसर लागत दूसरी वस्तु के उत्पादन में कमी के रूप में परिभाषित हो जाती है।

1.2.3 उत्पादन संभावना वक्र का स्थान परिवर्तन

आइए एक बार फिर उत्पादन संभावना वक्र से जुड़ी चर्चा पर लौट चलें। यद्यपि दी गई परिभाषा से हमें यह जानकारी मिली है कि एक वस्तु का उत्पादन बढ़ाने पर दूसरी वस्तु के (अधिकतम) उत्पादन में गिरावट आ जाती है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि अर्थव्यवस्था में कभी भी सब वस्तुओं का उत्पादन एक साथ बढ़ा पाना संभव नहीं होगा। यदि समय गुजरने पर समाज को तकनीकी प्रगति के लाभ सुलभ हो जाएँ या फिर उसे उपलब्ध संसाधनों के आकार स्वरूप आदि में सुधार हो जाएँ तो अर्थव्यवस्था निश्चित रूप से दोनों ही वस्तुओं का अधिक उत्पादन करने में सफल हो जाएगी। यह संसाधन वृद्धि अच्छे संयंत्रों, अधिक कुशल और विशाल श्रमशक्ति के रूप में हो सकती है। इसका प्रभाव चित्र 1.2 में दिखाया गया है। यहाँ पूरा उत्पादन संभावना वक्र ही AC से हट कर FH स्थिति में पहुँच जाता है।
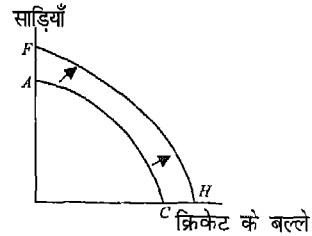
चित्र 1.2 : उत्पादन संभावना वक्र का स्थान परिवर्तन

हम एक बार फिर इस बात पर आग्रह कर रहे हैं कि आगे के अध्यायों में हम उत्पादन संभावना वक्र

की ही भांति कई और विश्लेषणात्मक संरचनाओं या वक्रों का बार-बार प्रयोग करेंगे। वे सभी संरचनाएँ आर्थिक विचारों के आधार पर ही गढ़ी गई हैं। यदि आपने अभी तक परिशिष्ट-I को नहीं पढ़ा है तो उसे पढ़ कर अच्छी तरह से समझ लीजिए। यह आपके लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा।

1.3 व्यष्टि बनाम समष्टि अर्थशास्त्र

अभी तक हमारी चर्चा अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु तथा उत्पादन संभावना वक्र और अवसर लागत जैसे विश्लेषण उपयोगी विचारों तक ही सीमित रही है। अर्थशास्त्र का विषय बहुत ही विस्तृत और विविधतापूर्ण है। इसकी कई शाखाएँ, प्रशाखाएँ हैं। इनमें से दो प्रशाखाएँ प्रमुख हैं। इन्हें **व्यष्टि अर्थशास्त्र** और **समष्टि अर्थशास्त्र** कहा जाता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र में मुख्यत: एक आर्थिक इकाई, एक उत्पादक या एक उपभोक्ता के समक्ष प्रस्तुत दुर्लभता और चयन समस्या पर विचार किया जाता है। एक उदाहरण पर ध्यान दें—मान लेते हैं कि आप एक नाई की दुकान खोलना चाहते हैं। इस मामले में आपको कई प्रश्नों पर विचार करना पड़ेगा, जैसे कि—कितने नाई रखे जाएँ? औसतन, प्रतिदिन कितने ग्राहकों को आपकी दुकान में सेवाएँ प्रदान की जाएँगी? किस प्रकार (स्टाइल) की हजामत के लिए कितने रुपए लिए जाएँगे? एक और उदाहरण : आपके अभिभावक आपको कुछ जेब खर्च की राशि हर महीने देते होंगे। उस राशि से आप कितने चॉकलेट और आइसक्रीम खरीद सकते हैं? ये सभी प्रश्न व्यक्ति स्तर पर चयन से जुड़े हैं। व्यष्टि अर्थशास्त्र ऐसे व्यक्तिगत चयन व्यवहार से संबंधित नियमों (सिद्धांतों) से जुड़ा है।

दूसरी ओर समष्टि अर्थशास्त्र में आपका वास्ता वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद, रोजगार, मुद्रास्फीति आदि के व्यवहार से पड़ता है। इस प्रशाखा के प्रश्न कुछ इस प्रकार के होते है : किसी अर्थव्यवस्था में वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद या फिर मुद्रा स्फीति की दर का निर्धारण किन तत्त्वों द्वारा होता है? भारत जैसे विकासशील देश में बेरोजगारी की दर किन नीतियों द्वारा कम की जा सकती है? आदि। अपनी इस पुस्तक में हम व्यष्टि अर्थशास्त्र के कुछ मूल सिद्धांतों पर चर्चा करेंगे।

सार संक्षेप

- अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है।
- अर्थशास्त्र का सरोकार दुर्लभता की अवस्था में व्यक्तिगत एवं सामाजिक चयन के अध्ययन से है।
- किसी भी अर्थव्यवस्था को तीन समस्याओं का सामना करना पड़ता है—क्या, कैसे और किसके लिए उत्पादित किया जाए।
- **क्या** की समस्या का अभिप्राय: है कि अर्थव्यवस्था किन वस्तुओं और सेवाओं का कितनी मात्राओं में उत्पादन करेगी।
- **कैसे** की समस्या वस्तुओं और सेवाओं की उत्पादन विधियों के चुनाव से जुड़ी है।
- **किसके लिए** का प्रश्न आय एवं संपत्ति के वितरण से जुड़ा है।
- एक बाजार आधारित या पूँजीवादी अर्थव्यवस्था इन समस्याओं के समाधान के लिए बाजार तंत्र की कार्य पद्धति का सहारा लेती है।
- सामान्यत: उत्पादन संभावना वक्र अक्ष केंद्र की ओर अवनतोदर होता है। इसका कारण वृद्धिमान सीमांत अवसर लागत है।
- तकनीकी प्रगति या फिर संसाधनों की आपूर्ति में वृद्धि आदि के कारण एक उत्पादन संभावना वक्र का बाहर की ओर स्थान परिवर्तित हो सकता है।

बिक्स 1-2
पूँजीवाद बनाम केंद्रीय आयोजन (परीक्षा अनुपयोगी)

हम सभी जानते हैं कि 1980 के दशक के अंत में सोवियत संघ अपने अर्थतंत्र के साथ ही बिखर गया था। यहाँ तक कि कभी केंद्रीय आयोजन पर आधारित चीनी अर्थव्यवस्था भी अब बड़ी तेज़ी से बाजार तंत्र को अपना रही है। प्रश्न उठता है कि केंद्रीय आयोजित व्यवस्था असफल क्यों हो गई ?

केंद्रीय आयोजन का सर्वोच्च ध्येय भी बाजार तंत्र की भांति ही जन सामान्य के जीवन स्तर में सुधार लाना है। किंतु आयोजन के अंतर्गत इस सुधार को पाने की विधियों में दो अंतर्निहित त्रुटियाँ पाई गई हैं–एक तो (क) परस्पर समन्वय का अभाव तथा दूसरे (ख) व्यक्तियों को अधिक मेहनत की अभिप्रेरणाओं का अभाव।

आज की आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में लाखों वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होता है। किसी भी अप्रत्याशित घटना या फिर मानवीय भूल के कारण इन लाखों गतिविधियों में केंद्रीय रूप से समन्वय बनाए रखने के प्रयास विफल हो सकते हैं। किसी एक क्षेत्र में निर्धारित उत्पादन लक्ष्य को पूरा कर पाने में असफलता कितने ही अन्य क्षेत्रों में समस्याएँ पैदा कर सकती है।

व्यक्तिगत अभिप्रेरणाओं के अभाव की समस्या की गंभीरता भी इससे कुछ कम नहीं होती। यह निर्णय तो केंद्रीय स्तर पर हो ही जाता है कि किस वस्तु का कितना उत्पादन किया जाएगा। फिर किसी भी स्तर पर कुछ नया करने की गुंजाइश ही कहाँ बचती है? स्वाभाविक है कि इस नए काम के लिए तत्काल और पर्याप्त **पुरस्कार** की भी कोई व्यवस्था नहीं होगी। अत: बेहतर और नए उत्पादन कर पाने के लिए कोई अभिप्रेरणा ही नहीं बचती। यही नहीं, जीवन भर सरकार द्वारा संचालित उद्योग धंधों में रोजगार मिले रहने की गारंटी के कारण भी पूरी लगन से, कुशलतापूर्वक काम में लगे रहने की **प्रेरणा** कमजोर तो हो ही जाती है। **प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुरूप काम करेगा**–यह कोरा सिद्धांत मात्र रह गया। इस सिद्धांत का अनुसरण करने के लिए प्रेरणाओं का नितांत अभाव ही रहा।

इसके विपरीत बाजार पर आधारित व्यवस्था व्यक्तियों को जोखिम उठाने के लिए पर्याप्त अवसर और अभिप्रेरणाएँ प्रदान करती है। बिना जोखिम के कोई नया काम नव प्रवर्तन संभव नहीं होता। अभिप्रेरणाएँ व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुरूप भरपूर कार्य करने को प्रोत्साहित करती हैं। यहाँ व्यक्ति के स्वतांत्र्य का सम्मान किया जाता है। उसे पर्याप्त पारितोषिक भी मिलता है। ये दोनों ही केंद्रीय आयोजन व्यवस्था की तुलना में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण रहते हैं।

हमारा यह आशय बिलकुल नहीं है कि पूँजीवादी व्यवस्था में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती। इसमें भी कई गंभीर समस्याएँ मौजूद रहती हैं। उच्चावचन–(आर्थिक निष्पादन के स्तर में उतार-चढ़ाव) से जुड़ी समस्याएँ इनमें से एक हैं। व्यवसाय का सारा ध्यान लाभ पर ही केंद्रित रहता है। इसमें प्राय: स्थानीय एवं विश्वस्तरीय पर्यावरण पर औद्योगिक गतिविधियों के दुष्प्रभावों को नजर अंदाज कर दिया जाता है। इन समस्याओं के निराकरण के लिए सरकार को कुछ प्रतिबंध लगाने पड़ते हैं। पर यह कार्य काफी सोच समझकर किया जाता है। इन प्रतिबंधों को केंद्रीय आयोजन की भांति सारी आर्थिक गतिविधियों पर प्रत्यक्ष रूप से एवं पूर्ण सरकारी नियंत्रण नहीं माना जा सकता। यह मानना उचित नहीं होगा कि पूँजीवादी व्यवस्था में भी कहीं-कहीं सरकारी प्रतिबंध होते हैं। अत: इसका अर्थ है कि सभी कामों पर सरकार का पूर्ण और प्रत्यक्ष नियंत्रण ही अर्थव्यवस्था के संचालन का सबसे सर्वोत्तम तरीका है।

▶▶▶ अभ्यास ◀◀◀

भाग-1

1.1 अर्थशास्त्र का सरोकार किससे है?

1.2 किसी अर्थव्यवस्था के समक्ष किन्ही दो केंद्रीय समस्याओं के नाम बताएँ।

1.3 उत्पादन संभावना वक्र की परिभाषा लिखें।

1.4 किसी उत्पादन संभावना वक्र पर कार्य कर रही अर्थव्यवस्था की सीमांत अवसर लागत की परिभाषा करें।

1.5 किसी उत्पादन संभावना वक्र पर वृद्धिमान सीमांत अवसर लागत का क्या अर्थ है?

1.6 अवसर लागत की परिभाषा करें।

1.7 व्यष्टि अर्थशास्त्र क्या है?

1.8 समष्टि अर्थशास्त्र क्या है?

भाग-2

1.9 दुर्लभता और चयन का संबंध समझाएँ।

1.10 "अर्थशास्त्र का संबंध दुर्लभता की अवस्था में चयन करने से है।" समझाइए।

1.11 किसी अर्थव्यवस्था की केंद्रीय समस्याएँ कौन-सी हैं? ये क्यों उत्पन्न होती हैं?

1.12 किसी अर्थव्यवस्था के समक्ष किन्हीं दो केंद्रीय समस्याओं की व्याख्या करें।

1.13 उत्पादन संभावना वक्र अक्ष केंद्र की ओर अवनतोदर क्यों दिखाई देता है?

1.14 एक अर्थव्यवस्था दो ही वस्तुओं का उत्पादन करती है–कमीजों का तथा सैल फोनों का। निम्न तालिका में उसकी उत्पादन संभावनाएँ दर्शाई गई हैं। सभी संयोजनों पर कमीजों के लिए सीमांत अवसर लागत ज्ञात करें।

कमीजे (दस लाख)	सैल फोन (हजार)
0	90,000
1	80,000
2	68,000
3	52;000
4	34,000
5	10,000

1.15 **क्या** की केंद्रीय समस्या उदाहरण सहित समझाएँ।

1.16 **कैसे** की केंद्रीय समस्या उदाहरण सहित समझाएँ।

1.17 **किसके लिए** की केंद्रीय समस्या की उदाहरण के साथ व्याख्या करें।

1.18 पुस्तक के इसी अध्याय में खेती लाल के उदाहरण के आधार पर उत्पादन संभावना वक्र की रचना करें।

1.19 एक व्यक्ति के उत्पादन संभावना वक्र पर विचार करें। मान लो कि आपको दो विषयों के प्रश्नोत्तर तैयार करने हैं–गणित और सामाजिक विज्ञान। आपके पास केवल 8 घंटे का समय है। मान लेते हैं कि गणित की तैयारी करने में आप काफी तेज़ हैं, एक घंटे में इसके विविध विकल्पों वाले 20 प्रश्नों के उत्तर तैयार कर सकते हैं। पर सामाजिक विज्ञान के ऐसे ही आप केवल 12 प्रश्न प्रति घंटा तैयार कर पाते हैं। अपनी उत्पादन संभावना तालिका की रचना कर उसका चित्रांकन करें। यहाँ दो वस्तुएँ हैं–(i) गणित के प्रश्नोत्तरों की तैयारी, तथा (ii) सामाजिक विज्ञान के प्रश्नोत्तरों की तैयारी।

1.20 संसाधनों के कम प्रयोग की अवस्था के दो उदाहरण दें।

1.21 "अर्थव्यवस्थाएँ सदैव उत्पादन संभावना वक्र पर कार्य करती हैं, इसके भीतर नहीं" पक्ष या विपक्ष में तर्क दें।

1.22 अवसर लागत की परिभाषा करें–एक उदाहरण की सहायता द्वारा इसकी व्याख्या भी करें।

1.23 मान लो कि आपने विज्ञान के विषय चुने हैं। आपके पास दो और विकल्प थे–कला (A) तथा वाणिज्य (B)। यदि आपने A चुना होता तो आपको प्रतिवर्ष 3 लाख रुपए की आय हो सकती थी विषय B से आपकी 4 लाख रुपए की वार्षिक आय संभव हैं। इस काल्पनिक उदाहरण में विज्ञान विषय चुनने की अवसर लागत क्या होगी ?

1.24 "भारी बेरोजगारी के कारण उत्पादन संभावना वक्र बाईं ओर खिसक जाता है।" पक्ष या विपक्ष में तर्क दें।

1.25 किन कारकों के कारण उत्पादन संभावना वक्र का स्थान परिवर्तित हो सकता है ?

1.26 संसाधनों की संवृद्धि के दो उदाहरण दें।

1.27 तकनीकी प्रगति या संसाधनों की संवृद्धि के कारण उत्पादन संभावना वक्र दाहिनी ओर क्यों खिसक जाता है ?

1.28 एक भूकंप में बहुत से लोग मारे गए, अनेक कारखानें भी ध्वस्त हो गए। इसका अर्थव्यवस्था की उत्पादन संभावना वक्र पर क्या प्रभाव होगा ?

1.29 व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र में भेद करें।

भाग-3

1.30 एक देश हरी मिर्च तथा चीनी–दो चीज़ों का उत्पादन करता है। निम्न तालिका में इसकी उत्पादन संभावनाएँ दिखाई गई हैं। ग्राफ पेपर पर उत्पादन संभावना वक्र का चित्रांकन करें और दिखाएँ कि उत्पादन संभावना वक्र अक्ष केंद्र की ओर अवनतोदर है। इस तालिका की कौन-सी विशेष बात है जिसके कारण उत्पादन संभावना वक्र का यह आकार बन रहा है ?

संभावनाएँ	हरी मिर्च	चीनी
A	100	0
B	95	1
C	85	2
D	70	3
E	50	4
F	25	5

इकाई-II

उपभोक्ता का व्यवहार और माँग

उपभोक्ता का व्यवहार और माँग

अध्याय **2**

2.1 उपभोक्ता का संतुलन

2.2 माँग का अर्थ और इसके निर्धारक

2.3 बाजार माँग वक्र

2.4 माँग की कीमत लोच

पहले अध्याय में हमने बताया था कि बाजार पर आधारित अर्थव्यवस्थाओं में **क्या**, **कैसे** और **किसके लिए** की केंद्रीय समस्याओं का समाधान विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की माँग और आपूर्ति की शक्तियों के माध्यम से होता है। किसी वस्तु की माँग कौन करता है? उसका आपूर्तिकर्ता कौन होता है? इन प्रश्नों के उत्तर वस्तुओं और सेवाओं के स्वरूप या प्रकार पर निर्भर करते हैं।

आलू-भुजिया जैसे किसी अंतिम उत्पाद[1] पर विचार करें। इसके उपभोक्ता परिवारजन हैं अतः इसकी माँग करने वालों को हम गृहस्थ (परिवारों के सदस्य) कह सकते हैं। इसके आपूर्तिकर्ताओं में **लेहर** और **बीकानेरवाला** जैसी कंपनियाँ शामिल हैं। दूसरा उदाहरण कंप्यूटर प्रोग्रामरों की सेवाओं का है। इस उत्पादक सेवा की माँग कंपनियाँ करती हैं। इसके आपूर्तिकर्ता कौन होते हैं? इसके आपूर्तिकर्ता परिवारों के सदस्य होते हैं। अनेक परिवारों के सदस्य किसी न किसी कंपनी में कंप्यूटर प्रोग्रामर के रूप में काम करके अपनी आजीविका कमाते हैं।

---

[1] *अंतिम वस्तुओं और सेवाओं में परिवारों के उपभोग में आने वाली चीजें और सेवाएँ सम्मिलित रहती हैं। इनके उदाहरण हैं–डबलरोटी, नाई द्वारा बाल संवारना, साइकिल की मरम्मत आदि।*

इन अंतिम वस्तुओं और सेवाओं से दूसरी तरह की वस्तुएँ और सेवाएँ भी होती हैं–उनके 'उपभोक्ता' या प्रयोगकर्ता व्यवसायी होते हैं। इन्हें हम कच्चे माल तथा उत्पादक सेवाओं का नाम देते हैं। इनके उदाहरण हो सकते हैं–साइकिल निर्माण उद्योग में इस्पात, आटे की चक्की में गेहूँ और मारुति कार की कार्यशाला में विभिन्न पुर्जे आदि।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अंतिम वस्तुओं और सेवाओं की माँग गृहस्थ या परिवारजन करते हैं। इनकी आपूर्तिकर्ता फर्में या कंपनियाँ होती हैं। दूसरी ओर उत्पादन तंत्र में काम आने वाली सेवाओं (साधन सेवाओं) की माँग फर्मों द्वारा की जाती है। यहाँ आपूर्ति करने का काम गृहस्थ करते हैं। अत: माँग एवं आपूर्तिकर्ता का निर्णय सीधे ही इस आधार पर हो जाता है कि वस्तु/सेवा अंतिम प्रयोग में आने वाली है अथवा और आगे उत्पादन में उसका प्रयोग होगा।

इस अध्याय में हम अंतिम वस्तुओं और सेवाओं के उपभोक्ता या माँगकर्ता के रूप में परिवारों के व्यवहार का अध्ययन करेंगे। कोई उपभोक्ता यह फैसला कैसे करता है कि किसी वस्तु की कितनी मात्रा की खरीदारी की जाए? इस निर्णय को प्रभावित करने वाले कारक कौन-से हैं? उन कारकों का प्रभाव कैसे पड़ता है? इन्हीं प्रश्नों पर हम इस अध्याय में चर्चा करने जा रहे हैं।

2.1 उपभोक्ता का संतुलन–माँग के नियम का आधार

आरंभ में कुछ समय तक हम 'संतुलन और माँग का नियम' आदि शब्दों/वाक्यांशों के प्रयोग से बचते हुए सीधे शब्दों में यह जानने का प्रयास करेंगे कि किसी समय बिंदु पर किसी उपभोक्ता को किसी वस्तु की कितनी इकाइयाँ खरीदनी चाहिए। इसे ठीक ढंग से समझ पाने से पूर्व कुछ अवधारणाओं को जान लेना उपयोगी रहेगा।

2.1.1 उपयोगिता की अवधारणाएँ

हम इसी विचार से अपना चिंतन आरंभ कर रहे हैं कि उपभोक्ता को वस्तु के प्रयोग से कुछ न कुछ संतुष्टि अवश्य मिलती है–यदि संतुष्टि नहीं मिलती तो वह उस वस्तु की माँग नहीं करेगा। इस विचार को मोटे तौर पर कुल उपयोगिता की अवधारणा से व्यक्त किया जाता है। इसे किसी वस्तु की निश्चित मात्रा के प्रयोग से उपभोक्ता को प्राप्त हुई समस्त मनोवैज्ञानिक संतुष्टि कहा जाता है। उदाहरण के लिए आप अपने गोल-गप्पों के उपयोग की ही बात लें, ध्यान है न कि हम छोटी-छोटी करारी पूरियों की बात कर रहे हैं जिनमें मसालों-चटनी, चने आदि के साथ इमली वाला पानी भरा होता है। आ गया न मुँह में पानी।

मान लो कि आपको कुछ भूख-सी लगी है और आप अपने मन पसंद गोल-गप्पे वाले की दुकान पर पहुँच गए हैं। यदि आप केवल एक गोल-गप्पा खाएँ तो, मान लेते हैं कि आपको किन्हीं 20 इकाई भर संतुष्टि की अनुभूति होती है। इन इकाइयों को हम मार्शल का अनुसरण करते हुए **यूटिल** नाम दे सकते हैं। अत: एक गोल-गप्पा खाने से मिली कुल उपयोगिता हुई 20 यूटिल। मान लो कि एक गोल-गप्पा खाने पर आप रुक नहीं पाते (ये चीजें ही ऐसी हैं) आपका मन और खाने को करता है। हम मान लेते हैं कि दूसरे गोल-गप्पे के उपभोग से आपको 22 यूटिल उपयोगिता और प्राप्त हो जाती है। अत: आपकी कुल उपयोगिता हुई 20 + 22 = 42 यूटिल। इसी प्रकार हम 3, 4, 5, गोल-गप्पों से मिली उपयोगिता की गणना कर सकते हैं।

कुल उपयोगिता के साथ-साथ सीमांत उपयोगिता का विचार भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे हम एक अतिरिक्त इकाई के उपयोग से कुल उपयोगिता में हुई वृद्धि के रूप में परिभाषित करते हैं। अत: हमारे पिछले उदाहरण में एक गोल-गप्पे के उपभोग की सीमांत उपयोगिता 20 यूटिल रही और दो गोल-गप्पों की 42 यूटिल। अब आप इस संबंध को भी समझ ही गए होंगे–कुल उपयोगिता वस्तुत: सभी सीमांत उपयोगिताओं का योगफल ही होती है।

आइए अब इस गोल-गप्पा पुराण को कुछ आगे बढाएँ। आपको ये चाहे जितने भी अच्छे लगते हों पर एक के बाद एक और खाने की इच्छा की **तीव्रता** कम होने लगती है। हम मान लेते हैं कि तीसरा गोल-गप्पा खाने के बाद से **तीव्रता** में कमी आने लगी है। अत: तीसरे से प्राप्त यूटिलों की संख्या 22 से कम ही रहेगी। मान लो कि यह 18 है। अत: तीन गोल-गप्पे खाने पर सीमांत उपयोगिता 18 यूटिल तथा कुल उपयोगिता 20 + 22 + 18 = 60 यूटिल होगी। चौथे के उपभोग से प्राप्य सीमांत उपयोगिता तो और भी कम, तथा 14 यूटिल ही रह जाती है।

सीमांत उपयोगिता में परिवर्तन के इस स्वरूप को हम एक **नियम** में बाँध देते हैं। इसे हम **ह्रासमान सीमांत उपयोगिता का नियम** कहते हैं। इस नियम के अनुसार यदि किसी वस्तु का उपभोग किसी निश्चित सीमा के बाद भी लगातार बढाया जाए तो उससे प्राप्त होने वाली सीमांत उपयोगिता में गिरावट आनी शुरू हो जाती है। विचार करने पर यह नियम बहुत ही स्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। इसे एक मूलभूत मनोवैज्ञानिक नियम भी कहा जा सकता है। अभी कुछ ही देर में आपको उपभोक्ता के व्यवहार को समझने में इस नियम के आधारभूत महत्त्व की झलक भी मिल जाएगी।

आइए फिर से गोल-गप्पे की दुकान पर लौट चलें। आठवाँ गोल-गप्पा खाकर आपको पेट भरा हुआ लगता है। किसी तरह आप नौवाँ भी निगल लेते हैं–पर उससे मिलने वाली उपयोगिता शून्य ही रहती है। पर दसवाँ गोल-गप्पा खाने पर बाध्य किया जाए तो आपकी क्या हालत होगी? संभवत: उल्टी हो जाएगी। यह तो सुखद अनुभूति नहीं होती। इसका अर्थ हुआ कि दसवें गोल-गप्पे से मिलने वाली उपयोगिता वास्तव में ऋणात्मक रही है। मान लो कि इसका स्तर (–)7 यूटिल है। दूसरे शब्दों में दस गोल-गप्पे खाने पर सीमांत उपयोगिता (–)7 यूटिल हो जाती है (अगर किसी का दिमाग फिर गया हो तो वह और भी खा सकता है, लेकिन उसे प्रत्येक अतिरिक्त गोल-गप्पे से उत्तरोत्तर बढती हुई ऋणात्मक उपयोगिता ही हाथ लगेगी)।

तालिका 2.1 में सीमांत और कुल उपयोगिता के बारे में 10 तक गोल-गप्पे खाने के अनुभव दर्ज किए गए हैं। तालिका के दूसरे एवं तीसरे स्तंभों में क्रमश: सीमांत तथा कुल उपयोगिता दिखाई गई है।

तालिका 2.1

सीमांत तथा कुल उपयोगिता

खाए गए गोल-गप्पे	सीमांत उपयोगिता यूटिल संख्या	कुल उपयोगिता यूटिल संख्या
0	–	0
1	20	20
2	22	42
3	18	60
4	14	74
5	11	85
6	8	93
7	4	97
8	2	99
9	0	99
10	(–)7	92

2.1.2 आप कितने गोल-गप्पे खरीद कर खाएँगे?

तालिका 2.1 से एक बात तो पहली झलक में ही स्पष्ट हो जाती है–यदि आप विवेकशील उपभोक्ता हैं (विवेकहीन नहीं) तो आप 10 से कम गोल-

गप्पे ही खाएँगे–दसवें को छुएँगे भी नहीं क्योंकि उससे तो ऋणात्मक सीमांत उपयोगिता ही मिल पाती है। यदि गोल-गप्पे बिलकुल मुफ्श्त मिल रहे होते तो भी आप 8 या 9 पर ही रुक जाते। इन्हीं के उपभोग से आपकी कुल उपयोगिता अपने अधिकतम स्तर 99 यूटिल पर रहती है। पर यदि आपको इनकी कीमत भी चुकानी पड़े तो फिर निश्चित ही आप इस अधिकतम उपयोगिता के उपभोग स्तर तक पहुँचना ही नहीं चाहेंगे। फिर तो आप अन्य चीज़ों पर कुछ खर्च और उससे प्राप्त उपयोगिता का हिसाब-किताब भी करने लगेंगे। ये चीज़ें आइसक्रीम, चाकलेट आदि कुछ भी हो सकती हैं। दूसरे शब्दों में, आपका गोल-गप्पा उपभोग केवल उन्हीं से मिलने वाली सीमांत तथा कुल उपयोगिता पर निर्भर नहीं करता। उस पर गोल-गप्पों की कीमत और अन्य वस्तुओं के रूप में रुपए के मूल्यमान का भी प्रभाव पड़ता है।

आइए इन **अन्य वस्तुओं के रूप में रुपए के मूल्यमान** का आकलन कुछ अधिक स्पष्ट रूप से करें। एक रुपए की सीमांत उपयोगिता से अभिप्राय उस अतिरिक्त उपयोगिता से है जो सामान्यत: हमें अन्य उपलब्ध वस्तुओं पर एक रुपया और खर्च करने से मिल पाती है। मान लो कि यह उपयोगिता 4 यूटिल है और गोल-गप्पे की कीमत 2 रुपए है।

अब हमारे पास कीमतों के साथ-साथ रुपए की सीमांत उपयोगिता की जानकारी भी आ गई है। अब हम यह समझ सकते हैं कि आप कितने गोल-गप्पे खरीद कर खाएँगे।

तालिका 2.1 हमें यह बता ही रही है कि शुरू में आपने एक गोल-गप्पा खाया था और उससे आपको 20 यूटिल उपयोगिता मिली थी। एक रुपए को हमने 4 यूटिल के समान माना है, अत: पहले गोल-गप्पे से प्राप्त उपयोगिता का अर्थ है कि उससे आपको $20 \div 4 = 5$ रुपए जितनी उपयोगिता मिली। आपका खर्च केवल 2 रुपए रहा। निश्चित रूप से यह लाभ का सौदा रहा। दूसरी इकाई से आपको $22 \div 4 = 5.50$ रुपए जितनी उपयोगिता मिली और उस पर भी आपने 2 रुपए ही खर्च किए।

इसी प्रकार प्रत्येक अतिरिक्त गोल-गप्पे का हिसाब लगाते जाइए। पाँचवें गोल-गप्पे से प्राप्त उपयोगिता का रुपयों में मूल्यमान 2.75 रुपए बनता है। उस पर भी आप के दो रुपए ही खर्च होते हैं।

किंतु छठे गोल-गप्पे से स्थिति कुछ बदल जाती है। यहाँ आपको प्राप्त उपयोगिता का मूल्यमान $8 \div 4 = 2$ रुपए ही बनता है, जबकि आपको खर्च भी दो रुपए करने पड़ते हैं। क्या आप इसे खरीदेंगे? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि आप कुछ असमंजस में आ जाएँगे। इसे खरीदने या न खरीदने दोनों स्थितियों के बीच निर्णय कर पाना सहज नहीं रहता–एक प्रकार का **तटस्थता** का भाव पैदा हो जाता है। पर एक बात बिलकुल स्पष्ट है–आप 6 से ज्यादा गोल-गप्पे कदापि नहीं खरीदेंगे। इसका कारण यही है कि सातवीं और आगे की इकाइयों के उपभोग से प्राप्त सीमांत उपयोगिता का रुपयों में मूल्यमान उनकी कीमत से कम रह जाता है। अत: एक बात तो स्पष्ट हो गई है कि आप 5 या 6 गोल-गप्पे ही खरीद कर खाएँगे।

मौद्रिक रूप में मिली सीमांत उपयोगिता तथा चुकाई गई कीमत की तुलना का अभिप्राय है कि उपभोग के इन दोनों स्तरों पर मौद्रिक रूप में कुल उपयोगिता और गोल-गप्पों पर आपके व्यय का सकारात्मक अंतर अधिकतम हो जाना चाहिए। इन व्यय को कीमत × गोल-गप्पों की संख्या द्वारा व्यक्त किया जाता है।

तालिका 2.2

कुल उपयोगिता का रुपयों में मूल्यमान तथा कुल व्यय

उपमुक्त गोल-गप्पों की संख्या	कुल उपयोगिता मूल्यमान (रुपए)	कुल व्यय (रुपए)	अन्तर रुपए
0	0	0	0
1	5.00	2	3.00
2	10.50	4	6.50
3	15.00	6	9.00
4	18.50	8	10.50
5	*21.25*	*10*	*11.25*
6	*23.25*	*12*	*11.25*
7	24.25	14	10.25
8	24.75	16	8.75
9	24.75	18	6.75
10	23.00	20	3.00

तालिका 2.2 की गणनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि 5 या 6 इकाइयों के उपभोग से ही मूल्यमान तथा व्यय का अन्तर अधिकतम रहता है (व्यय = खरीदी गई इकाइयाँ × प्रति इकाई कीमत)। इस तालिका में दूसरे स्तंभ में कुल उपयोगिता का रुपयों में मूल्यमान दिया गया है। यह कुल उपयोगिता ÷ 4 है। तीसरे स्तंभ में कुल व्यय = गोल-गप्पों की संख्या × कीमत (2 रुपए) दिखाया गया है। अन्तिम स्तंभ में दूसरे और तीसरे स्तंभों की प्रविष्टियों के अन्तर दर्ज किए गए हैं। यही उपभोक्ता को हुई शुद्ध प्राप्ति दर्शाते हैं। हमारे इस उदाहरण में यह अन्तर अपने अधिकतम स्तर (11.25 रुपए) पर उस समय होता है जब आप 5 या 6 गोल-गप्पे खाते हैं।

इस उदाहरण से यह भी स्पष्ट समझ में आ जाता है कि हम उपभोक्ता के संतुलन की बात क्यों उठा रहे हैं। अर्थशास्त्र में अनेक बार संतुलन शब्द की बात आती है। इसका अर्थ है कि जहाँ आकर **ठहराव** आ जाता है। अर्थशास्त्री कहेंगे कि उपभोक्ता का संतुलन 5 या 6 गोल-गप्पों पर हो जाता है। वह न 5 से कम खाएगा और न ही 6 से ज्यादा खाना उसके हित में होगा। सामान्यत: हम कह सकते हैं कि उपभोक्ता का किसी वस्तु की खरीद के संदर्भ में संतुलन उस समय होता है जबकि उसकी कुल उपयोगिता के मूल्यमान और वस्तु पर व्यय के बीच का अन्तर **अधिकतम** हो जाए।

2.1.3 सामान्य सिद्धांत या नियम

अभी हम जिस उदाहरण की चर्चा कर रहे थे, उसी के आधार पर हम उपभोक्ता के संतुलन के उस नियम की रचना कर सकते हैं जो सभी वस्तुओं पर समान रूप से लागू रहेगा। याद कीजिए, उस उदाहरण में हमने पाया था कि 6 गोल-गप्पे खाने पर हमारे उपभोक्ता की सीमांत उपयोगिता का मूल्यमान 2 रुपए था। प्रति गोल-गप्पा कीमत भी 2 रुपए ही है। यही

वह सामान्य सर्वमान्य सिद्धांत है। इसे हम दो प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं। उपभोक्ता का संतुलन उस स्थिति में होता है जब–

(क) $\dfrac{\text{वस्तु की सीमांत उपयोगिता}}{\text{एक रुपए की सीमांत उपयोगिता}}$

= वस्तु की कीमत

(ख) $\dfrac{\text{वस्तु की सीमांत उपयोगिता}}{\text{वस्तु कीमत}}$

= एक रुपए की सीमांत उपयोगिता

इस नियम के स्वरूप (क) का बहुधा प्रयोग होता है । यह है–किसी वस्तु की सीमांत उपयोगिता का मौद्रिक मान उसकी कीमत के समान होता है। कई बार यह भी कह दिया जाता है कि **सीमांत उपयोगिता कीमत** के समान होती है।

एक बार फिर उसी उदाहरण पर विचार करें। हमने देखा था कि उपभोक्ता 5 गोल-गप्पे खाकर भी संतुलन में होता, किन्तु उस बिंदु पर हमारी शर्त (क) या (ख) पूरी नहीं होती। इसका मुख्य कारण यही है कि गोल-गप्पा पूर्णत: विभाजनीय नहीं हैं। उन्हें सरल रेखा के बिंदुओं की तरह सतत् रूप से नहीं मापा जा सकता। यदि इसके विपरीत कोई वस्तु भार तोलने की मशीन पर वजन की तरह पूर्णत: विभाजनीय हो तो उपभोग के एक ही स्तर पर उपभोक्ता का संतुलन निर्धारित हो जाएगा। उस स्तर पर हमारी शर्त (क) या (ख) अवश्य पूरी होगी।

हमारे सारे विश्लेषण में वस्तु की संपूर्ण विभाजनीयता की मान्यता निहित है। इसीलिए हम (क) या (ख) को उपभोक्ता के संतुलन की शर्त के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।[2]

2.2 माँग का अर्थ और इसके निर्धारक

हम जिस प्रकार उपभोक्ता के संतुलन की व्याख्या कर रहे हैं उससे एक बात के स्पष्ट संकेत मिल रहे हैं–किसी समय अवधि में एक उपभोक्ता द्वारा वस्तु की खरीदी गई इकाइयों की संख्या (या मात्रा) का निर्धारण करने वाला एक महत्त्वपूर्ण कारक उस वस्तु की कीमत होती है। इसका कारण है–जैसे ही बाजार में वस्तु की कीमत बदलेगी, सीमांत उपयोगिता और कीमत का अनुपात बदल जाएगा। अत: उपभोक्ता अपनी खरीदारी में परिवर्तन कर (किसी दूसरे बिंदु पर उपभोग करके) पुन: उस पुराने अनुपात को प्राप्त करने का प्रयास करेगा।

इसी के आधार पर हम किसी वस्तु के लिए उपभोक्ता की माँग की परिभाषा कर सकते हैं–**किसी निश्चित अवधि में अलग-अलग कीमतों पर कोई उपभोक्ता किसी वस्तु की जिस मात्रा की खरीदारी करने को तैयार हो, वे उसे माँग कहते हैं।**

किंतु केवल कीमत ही उपभोक्ता के खरीदारी संबंधी व्यवहार को प्रभावित करने वाला एकमात्र कारक नहीं है। अन्य कई कारकों के भी निश्चित प्रभाव रहते हैं। उदाहरणत: यदि उपभोक्ता की अभिरुचियों में परिवर्तन हो जाए तो उसकी सीमांत उपयोगिता का स्तर भी बदल जाएगा। फिर तो उसका संतुलन किसी अन्य उपभोग स्तर पर ही संभव हो पाएगा।

यही नहीं, अभी तक हम केवल एक वस्तु (गोल-गप्पे) तक अपने विश्लेषण को सीमित रखे हुए हैं। पर वास्तव में तो हमारे उपभोक्ता बहुत-सी वस्तुओं की खरीदारी करते हैं। यद्यपि इस पाठ्यक्रम में हम बहुत-सी वस्तुओं की खरीदारी करते हुए उन सभी के उपभोग में उपभोक्ता के संतुलन का विश्लेषण नहीं

[2] *इस मान्यता से परे हटने पर कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं होती। यदि वस्तु पूर्णत: विभाजनीय नहीं हो, तो भी ये शर्तें (क) या (ख) पूरी तरह से न सही, कुछ न कुछ तो फिर भी लागू रहती हैं।*

करेंगे पर उससे हमें दो और कारकों के बारे में महत्त्वपूर्ण संकेत अवश्य मिल जाते हैं। ये कारक हैं– अन्य संबद्ध वस्तुओं की कीमतें तथा उपभोक्ता की आय। इनके विषय में चर्चा करना स्वाभाविक ही है। यदि कोई व्यक्ति चाय और कॉफी दोनों पीता है और चाय की कीमत में परिवर्तन आ जाए तो उसकी कॉफी की माँग अप्रभावित नहीं रह पाएगी। उसमें भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य होगा। इसी प्रकार कॉफी के दामों के उतार-चढ़ाव के प्रभाव चाय की माँग पर भी अवश्य पड़ेंगे। साथ ही, यदि आय का स्तर परिवर्तित हो पाए तो कीमतें स्थिर रहने पर भी उपभोक्ता सभी वस्तुओं की खरीदारी में फेर-बदल करने में समर्थ हो जाता है।

अत: इन तीन कारकों को भी माँग के निर्धारक कहा जाता है–

क. संबद्ध वस्तुओं की कीमतें,

ख. उपभोक्ता की आय, तथा

ग. उपभोक्ता की अभिरुचियाँ[3]

हमारा अगला प्रश्न यही है कि वस्तु की अपनी कीमत और तीन उपर्युक्त कारकों के माँग की गई मात्रा पर किस प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं।

2.2.1 वस्तु की अपनी कीमत का प्रभाव–माँग का नियम

वस्तु की माँग पर केवल उसकी अपनी कीमत के परिवर्तन के प्रभाव को स्पष्ट रूप से समझने के लिए हमें यह मान्यता निर्धारित करनी होगी कि अन्य सभी कारक स्थिर रहते हैं। यह प्रभाव ही **माँग का नियम** है। इसके अनुसार *अन्य बात अपरिवर्तित रहने पर किसी वस्तु की कीमत में वृद्धि होने पर उपभोक्ता द्वारा उसकी (माँगी गई) मात्रा कम हो जाती है।* अन्य बातों से हमारा तात्पर्य संबद्ध वस्तुओं की कीमतों, उपभोक्ता की आय और अभिरुचियों से है।

हम तालिका 2.3 में किसी परिवार द्वारा किसी महीने में अलग-अलग कीमतों पर खरीदी गई सेबों की उन मात्राओं को पेश कर रहे हैं जो उसकी उपभोक्ता संतुलन शर्त का भी अनुपालन करती है। पहले स्तंभ में सेब की कीमतें तथा दूसरे में उन कीमतों पर खरीदी गई मात्राएँ दिखाई गई हैं। हम यह मान कर चल रहे हैं कि सभी संबद्ध वस्तुओं की कीमतें, परिवार की आय तथा अभिरुचियाँ पूर्व निर्धारित स्तर पर ही रहती हैं :

तालिका 2.3
एक माँग तालिका

सेब के दाम रु०/किलोग्राम	सेब की मात्रा किलोग्राम
12	24
13	17
14	12
15	9
16	7
17	6

[3] *इन कारकों, (क, ख तथा ग) के अतिरिक्त भी महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्व हो सकते हैं। उदाहरण के लिए कीमतों में परिवर्तन की आशा। खाद्य तेलों या चीनी जैसी वस्तुओं की बात लें। मान लो कि मौसम विभाग का अनुमान है कि आपके क्षेत्र में अगले तीन दिनों में भारी तूफान आने वाला है, जिससे आवागमन की व्यवस्था चरमरा सकती है। फिर तो आपको तुरंत ही यह समझ आ जाएगा कि तूफान के बाद इन चीज़ों की आपूर्ति में व्यावधान उत्पन्न हो जाएँगे और इनकी कीमतें आसमान छूने लगेंगी। अत: आय, अभिरुचियों तथा स्थिर कीमतों के बाद भी आपका सामान्य विवेक इन वस्तुओं की कुछ अधिक खरीदारी करने की प्रेरणा देने लगेगा।*

यही नहीं, हमारी अभिरुचियाँ केवल स्वभाविक या प्राकृतिक कारणों से परिवर्तित नहीं होतीं। उन पर वस्तुओं के विज्ञापन, प्रचार आदि का भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है।
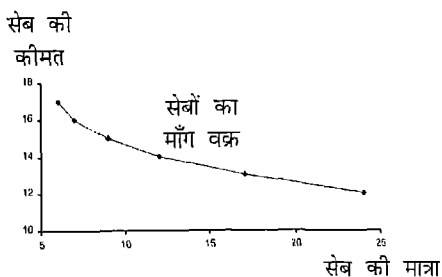
चित्र 2.1 : तालिका 2.3 के आधार पर बना माँग वक्र

माँग के नियम की तालिका के रूप में प्रस्तुति को हम माँग-तालिका कहते हैं। इसी तालिका की जानकारी को रेखाचित्र के रूप में अंकित करने पर हमें माँग वक्र प्राप्त होता है। सामान्यत: वस्तु की अपनी कीमत को Y-अक्ष पर दर्शाया जाता है। हमारी तालिका 2.3 पर आधारित माँग-वक्र स्पष्टत: दाहिनी ओर ढलवाँ है। इसका कारण यही है कि वस्तु की अपनी कीमत में वृद्धि के कारण उसकी माँगी गई मात्रा में कमी आ जाती है। माँग वक्र पर दर्शाई गई प्रत्येक मात्रा उपभोक्ता के संतुलन की शर्त भी पूरी करती हैं।

माँग वक्र दाहिनी ओर ढलवाँ क्यों होता है?

क्या आपको माँग वक्र का इस प्रकार ढलवाँ होना स्वभाविक नहीं लगता? अपनी कीमत बढ़ने पर वस्तु की माँग कम क्यों हो जाती है? यह बात अपने आप स्पष्ट नहीं हो पाती। इसका कारण है ह्रासमान सीमांत उपयोगिता का नियम। *वास्तव में माँग वक्र वस्तु के ह्रासमान सीमांत उपयोगिता वक्र का ही एक संशोधित स्वरूप है।*[4]

तालिका 2.4

सीमांत उपयोगिता और माँग तालिका

कमीजों की संख्या	कमीजों की सीमांत उपयोगिता
1	75
2	70
3	65
4	60
5	55
6	50
7	45

इस तालिका में हम कमीजों की सीमांत उपयोगिता दिखा रहे हैं। सुविधा के लिए हम यह मान लेते हैं कि पहली ही कमीज से ह्रासमान सीमांत उपयोगिता प्रारंभ हो जाती है। हम सुविधा के लिए यह भी मान लेते हैं कि एक रुपए की सीमांत उपयोगिता = एक यूटिल। फिर तो हमारी उपभोक्ता संतुलन की शर्त होगी–**सीमांत उपयोगिता = कीमत**।

मान लो कि प्रारंभ में एक कमीज की कीमत 45 रुपए है। अत: उपभोक्ता संतुलन की शर्त के अनुसार 7 कमीजें खरीदी जाएँगी इसी को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं–कीमत 45 रुपए प्रति कमीज होने पर 7 कमीजों की माँग होगी। अत: युग्म (45, 7) माँग वक्र पर होगा। यदि एक कमीज की कीमत 65 रुपए हो जाए तो उपभोक्ता के संतुलन की शर्त तभी पूरी हो पाएगी जबकि वह केवल 3 कमीजें खरीदे। अत: 65 रुपए प्रति इकाई कीमत पर 3

[4] इस बात को कुछ इस प्रकार भी समझा जा सकता है–अधिक मात्रा खरीदने पर सीमांत उपयोगिता कम हो जाती है। अत: हमारा विवेकशील उपभोक्ता (प्रति इकाई) कम कीमत चुकाने को तैयार होगा। इसी को दूसरी दृष्टि से कुछ इस तरह भी रखा जा सकता है–यदि किसी वस्तु की कीमत में गिरावट आ जाए तो उपभोक्ता इसकी अधिक मात्रा खरीदने को तैयार हो जाएगा।

कमीजें खरीदी जाएँगी। इसीलिए युग्म (65, 3) भी माँग वक्र पर स्थिर होगा। इसी प्रकार हम तय कर सकते हैं कि माँग तालिका का प्रत्येक युग्म माँग वक्र का एक बिंदु बन जाता है। इसका अर्थ होगा कि सीमांत उपयोगिता वक्र स्वयं ही माँग वक्र बन जाता है। अत: माँग वक्र दाहिनी ओर ढलवाँ होने का कारण यही है कि सीमांत उपयोगिता वक्र दाहिनी ओर ढालू होता है।

2.2.2 माँग के अन्य निर्धारक

आइए अब उन अन्य कारकों पर विचार करें जिन्हें हमने किसी वस्तु की माँग का निर्धारणकर्ता माना है।

संबद्ध वस्तु की कीमत में परिवर्तन

मान लीजिए कि आपकी पड़ोसन श्रीमती दास को मिठाइयाँ बहुत पसंद हैं। बर्फी और गुलाब जामुन तो उन्हें बहुत ही अच्छे लगते हैं। मान लो बर्फी बहुत महँगी हो जाती है, हलवाई अब उसके लिए 5 रुपए प्रति बर्फी के स्थान पर 8 रुपए माँगने लगा है। इसका श्रीमती दास की गुलाब जामुनों की माँग पर क्या प्रभाव पड़ेगा? वे पहले से ज्यादा मात्रा में गुलाब जामुन खरीदने लगेंगी। कारण यही है कि बर्फी और गुलाब जामुन उनके उपभोग में एक-दूसरे के **प्रतिस्थापक** है।

एक अन्य उदाहरण लें। चाय और कॉफी दो पेय हैं। यदि कॉफी महँगी हो जाए तो चाय की माँग में वृद्धि हो जाती है। चाय के महँगे होने पर कॉफी की माँग में वृद्धि हो जाती है। इसका कारण भी यही है कि चाय तथा कॉफी एक-दूसरे के प्रतिस्थापक हैं। अत: हम कह सकते हैं कि *अ तथा ब वस्तुएँ एक दूसरे की प्रतिस्थापक होंगी यदि अ की कीमत में वृद्धि के कारण ब की माँग में बढ़ोतरी हो जाए।*

दूसरी ओर चीनी और चाय की बात लीजिए। चीनी का प्रयोग चाय के साथ-साथ (प्रतिपूरक स्वरूप में) होता है। अत: चाय महँगी होने पर उसका उपभोग कम होगा। इसी कारण से चीनी का प्रयोग भी कम रह जाएगा। इसी प्रकार की प्रतिपूरकता का एक और उदाहरण कार और पैट्रोल है। पैट्रोल महँगा हो जाए तो कारों की माँग भी कम होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में *वस्तुओं अ तथा ब को प्रतिपूरक कहा जाएगा यदि ब की कीमत में वृद्धि के कारण अ की माँग में कमी आ जाए।*

तालिका 2.5

कॉफी की कीमत में वृद्धि का चाय की माँग पर प्रभाव

चाय कीमत रु. प्रति कि.ग्रा.	कॉफी 200 रु. प्रति कि.ग्रा. होने पर चाय की माँग	कॉफी 250 रु. प्रति कि.ग्रा. होने पर चाय की माँग
(1)	(2)	(3)
150	20	28
170	11	18
190	5	10
210	2	7
230	1	4

तालिका 2.6

चाय की कीमत में वृद्धि का चीनी की माँग पर प्रभाव

चीनी की कीमत रु. प्रति कि.ग्रा.	चीनी की माँग, चाय 170 रु. प्रति कि.ग्रा. होने पर	चाय 250 रु. प्रति कि.ग्रा. होने पर चीनी की माँग
5	20	12
8	14	7
11	9	4
14	6	2
17	5	1

ये उदाहरण कीमतों के तिरछे प्रभावों को दिखा रहे हैं, अर्थात् किसी एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन का दूसरी वस्तु की माँग पर प्रभाव ।

तालिका 2.5 की जानकारी पर ध्यान दें। जैसे ही कॉफी की कीमत 200 रुपए से बढ़कर 250 रुपए प्रति किलो होती है, चाय की माँग में वृद्धि हो जाती है। माँग में यह वृद्धि चाय की सभी कीमतों पर हो रही है। उदाहरण के लिए जब कॉफी की कीमत 200 रुपए में तथा चाय की 170 रुपए किलो थी तो चाय की माँग 11 किलो थी। किंतु चाय की कीमत स्थिर रहते हुए कॉफी के 250 रुपए किलो हो जाने पर हमारा यही उपभोक्ता 18 किलो चाय का प्रयोग करने लगा है। चित्र 2.2 में तालिका 2.5 के स्तंभ 2 तथा 3 में दिखाई गई चाय की माँग तालिकाओं का रेखांकन किया गया है। हम स्पष्टत: देख सकते हैं कि कॉफी की कीमत 250 रुपए किलो हो जाने पर चाय के माँग वक्र की स्थिति पहले की अपेक्षा दाहिनी ओर हो जाती है। अत: हम कह सकते हैं–*प्रतिस्थापक वस्तु की कीमत में वृद्धि (कमी) के कारण वस्तु का माँग वक्र दाहिनी (बाईं) ओर खिसक जाता है।*
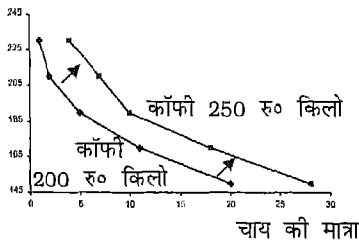
चित्र 2.2 : वस्तु की कीमत में वृद्धि

इसी प्रकार तालिका 2.6 पर ध्यान दें। जैसे ही चाय की कीमत 170 रुपए से बढ़कर 200 रुपए किलो होती है चीनी की माँग गिर जाती है। यह गिरावट भी चीनी की कीमत के प्रत्येक स्तर पर स्पष्ट दिखाई दे रही है। चाय की कीमत 200 रुपए किलो होने पर चीनी का माँग वक्र पूरी तरह से चीनी के उस माँग वक्र से बाईं ओर आ जाता है जो चाय की कीमत 170 रुपए किलो होने पर बनाया गया था। अत: हम कह सकते हैं–*किसी प्रतिपूरक वस्तु के दामों में वृद्धि (कमी) के कारण वस्तु माँग वक्र बाईं (दाहिनी) ओर खिसक जाता है।*

आय में परिवर्तन

मान लो कि आप अपना सारा जेब खर्च केवल दो वस्तुओं पर खर्च कर देते हैं–एक है आइसक्रीम और दूसरी मूँगफली। आइसक्रीम आपको अधिक पसंद है, पर महँगी है। मूँगफली कम पसंद है, पर सस्ती है। अब यदि आपके माता-पिता आपकी जेब खर्च की राशि में वृद्धि कर दें तो आपके खर्च संबंधी व्यवहार पर क्या प्रभाव होगा? आप आइसक्रीम ज्यादा खरीदेंगे या मूँगफली? या फिर दोनों के ही उपभोग में कुछ-कुछ वृद्धि होगी? हमें तो लगता है, आप आइसक्रीम की खरीदारी ज्यादा करेंगे। मूँगफली भी ज्यादा खाएँगे, यह बात इतनी स्पष्ट नहीं हो पाती। इस बात की संभावना भी काफी प्रबल है कि आप मूँगफली की खरीदारी पहले से भी कम कर दें। इसका कारण यह कदापि नहीं है कि आपकी अभिरुचियों में कोई परिवर्तन आ गया है। वास्तव में अब आप अपनी अधिक पसंद चीज आइसक्रीम की अधिक मात्रा में खरीदारी करने योग्य हो गए हैं (आपकी जेब में पैसे ज्यादा आने लगे हैं)।
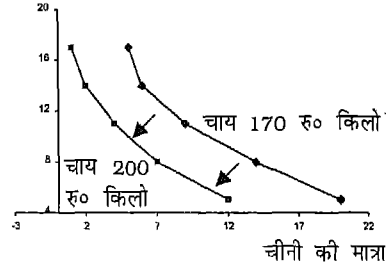
चित्र 2.3 : प्रतिपूरक वस्तु की कीमत में वृद्धि

अत: हम कह सकते हैं कि जैसे-जैसे आय में वृद्धि होगी, उपभोक्ता द्वारा खरीदी गई विभिन्न वस्तुओं की मात्राएँ भी बदल जाएँगी। वह किसी वस्तु की खरीदारी बढ़ा देता है, तो किसी की खरीदारी में कमी भी कर देता है। जिस वस्तु की खरीदारी और उपभोग में वृद्धि होती है, उसे हम **सामान्य वस्तु** (Normal goods) का नाम देते हैं। यहाँ आइसक्रीम सामान्य वस्तु है। आय बढ़ने पर जिस वस्तु की खरीदारी में कमी आती है उसे **घटिया या निकृष्ट वस्तु** का नाम दिया जाता है। हमारे उपर्युक्त उदाहरण में मूँगफली की खरीदारी कम हो जाती है अत: हमारे इस उपभोक्ता की दृष्टि में मूँगफली एक निकृष्ट वस्तु होगी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं–*आय में वृद्धि से जिन वस्तुओं की माँग में वृद्धि हो उन्हें सामान्य वस्तुएँ कहा जाएगा। इसके विपरीत आय वृद्धि से जिनकी माँग में कमी हो जाए वे वस्तुएँ निकृष्ट या घटिया वस्तुएँ कहलाएँगी।*

तथा 3 की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि आय 300 रुपए से बढ़कर 400 रुपए हो जाए तो हमारा उपभोक्ता प्रत्येक कीमत पर पहले की अपेक्षा अधिक इकाइयाँ खरीदता है। इसके विपरीत निष्कृष्ट वस्तु की जानकारी स्तंभ 5 और 6 में दी गई। इससे स्पष्ट है कि निष्कृष्ट वस्तु की कीमत के प्रत्येक स्तर पर उसकी खरीदारी में कमी आ जाती है।

हम सामान्य वस्तु से जुड़ी जानकारी को चित्र 2.4 में चित्रांकित कर रहे हैं। इसी प्रकार निष्कृष्ट वस्तु से जुड़ी जानकारी चित्र 2.5 में अंकित की गई है। चित्र 2.4 में आय का स्तर 300 रुपए होने की प्रारंभिक अवस्था में उपभोक्ता का माँग वक्र NN_0 रहा। यह तालिका 2.7 के स्तंभ 1 तथा 2 पर आधारित है। आय में वृद्धि होने पर उपभोक्ता का नया माँग वक्र स्तंभ 1 तथा 2 की जानकारी के आधार पर बनाया जा सकता है। यह चित्र में NN_1 द्वारा दिखाया गया है। अत: हम स्पष्टत: देख सकते हैं–*यदि वस्तु सामान्य प्रकार की हो तो आय में वृद्धि के कारण*

तालिका 2.7

सामान्य तथा निष्कृष्ट वस्तुएँ

एक सामान्य वस्तु			एक घटिया वस्तु		
अपनी कीमत माँगी गई मात्रा	आय=300 पर माँगी गई मात्रा	आय=400 पर	अपनी कीमत माँगी गई मात्रा	आय=300 पर माँगी गई मात्रा	आय=400 पर
1	15	19	3	20	15
2	12	16	4	17	12
3	9	13	5	14	9
4	7	11	6	11	6
5	5	9	7	8	3
6	3	7	8	5	0

तालिका 2.7 में हमने सामान्य तथा निकृष्ट वस्तुओं की खरीदारी संबंधी व्यवहार को आँकड़ों द्वारा दर्शाया है। सामान्य वस्तु के विषय में स्तंभ 2

उसका माँग वक्र दाहिनी ओर खिसक जाता है। निकृष्ट वस्तु के लिए प्रारंभिक माँग वक्र FF_0 और नया माँग वक्र FF_1 है। इसे चित्र 2.5 में दिखाया गया है। यहाँ

भी स्पष्ट है–*आय में वृद्धि होने पर निष्कृष्ट वस्तु का माँग वक्र बाईं ओर खिसक जाता है।*
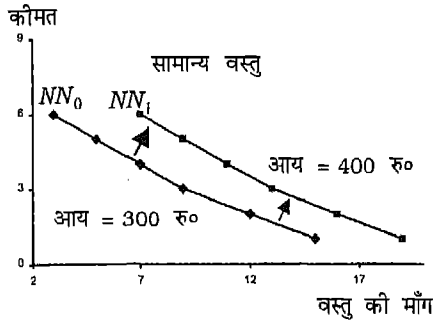
चित्र 2.4 आय में वृद्धि (निष्कृष्ट वस्तु)
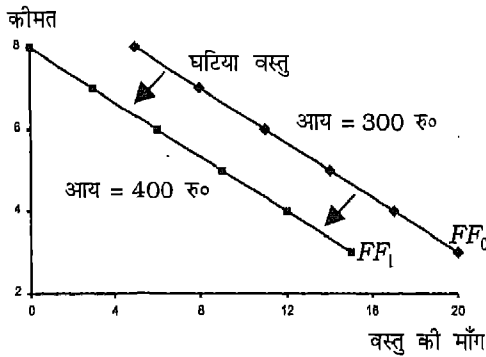
चित्र 2.5 : आय में वृद्धि (निष्कृष्ट वस्तु)

वैसे विश्व में हमें निष्कृष्ट वस्तुओं के उदाहरण (सामान्य की अपेक्षा) बहुत कम मिल पाते हैं। हम अपने देश भारत में सभी अनाजों को मिलाकर (चावल, गेहूँ, बाजरा, ज्वार आदि) एक बड़ी निष्कृष्ट वस्तु श्रेणी बना सकते हैं। इस वर्ग में भी निष्कृष्ट वस्तु की विशेषताएँ बाजरा, ज्वार तथा मक्का जैसी चीज़ों पर अधिक लागू होती हैं।

अभिरुचियों में परिवर्तन

आइए अब अंत में उपभोक्ता की पसंद-नापसंद में परिवर्तन के प्रभावों पर विचार करें। संभव है कि दूरदर्शन पर अपने मनपसंद अभिनेता को कोका-कोला पीते देखकर आपकी इस पेय के प्रति पसंद अधिक गहरी हो जाए। इसका क्या परिणाम होगा? आपका कोका-कोला का माँग वक्र दाहिनी ओर खिसक जाएगा। अभिरुचियों में इस प्रकार के परिवर्तन को **सकारात्मक** परिवर्तन कहा जाता है। इसके विपरीत पसंद में कमी आने को हम **नकारात्मक** परिवर्तन कहेंगे। उसके प्रभाव से माँग वक्र बाईं ओर खिसक जाता है। अत: हम कह सकते हैं–*एक अभिरुचियों में सकारात्मक (नकारात्मक) परिवर्तन के प्रभाव से वस्तु माँग वक्र दाहिनी (बाईं) ओर खिसक जाता है।*

यह अभिरुचि परिवर्तन उपभोक्ता की पसंद में परिवर्तन या फिर किसी अन्य कारण से भी हो सकता है। यदि स्वास्थ्य संबंधी कारणों से आप किसी चीज़ का अधिक उपयोग करने लगें तो हमारा विश्लेषण इसे भी अभिरुचियों का सकारात्मक परिवर्तन ही मानेगा, भले ही वह वस्तु आपको कुछ खास **स्वादिष्ट** या मजेदार नहीं लगती हो। मुख्य बात यही है कि आप किसी भी कारण से आय तथा कीमतें स्थिर रहने पर भी उस वस्तु की अधिक मात्रा में खरीदारी और उपभोग करने लगे हैं।

2.2.3 माँग की मात्रा में परिवर्तन बनाम माँग में परिवर्तन/खिसकाव

अब तक हम यह तो समझ ही चुके हैं कि किसी वस्तु की माँगी गई मात्रा उसकी अपनी कीमत पर निर्भर करती है। साथ ही माँग पर कुछ अन्य कारकों के प्रभाव भी रहते हैं। ये कारक हैं–अन्य संबद्ध वस्तुओं की कीमतें, उपभोक्ता की आय और उसकी अभिरुचियाँ। वस्तु की अपनी कीमत में परिवर्तन का उसकी माँग की जा रही मात्रा पर प्रभाव माँग का नियम कहलाता है। इसी माँग के नियम को रेखाचित्र के रूप में अंकित करने पर हमें माँग वक्र मिलता है

जो दाहिनी ओर ढलवाँ रहता है। वस्तु की अपनी कीमत में परिवर्तन इसी माँग वक्र के एक बिंदु से दूसरे बिंदु की ओर हमें ले जाता है। कीमत जितनी अधिक (कम) होगी उतनी ही कम (अधिक) मात्रा की माँग होगी। इस प्रकार के परिवर्तन को माँग की मात्रा में परिवर्तन कहा जाता है।

इसकी तुलना में अन्य कारकों में आए परिवर्तन पूरी माँग वक्र की स्थिति को ही बाईं या दाहिनी ओर खिसका देते हैं। माँग वक्र के इस प्रकार के स्थिति परिवर्तन को हम माँग में परिवर्तन का नाम देते हैं।

चित्र 2.6 में माँग की मात्रा में परिवर्तन और माँग में परिवर्तन की अवधारणाओं को प्रस्तुत किया गया है। चित्र के भाग (क) में मात्रा का परिवर्तन दिखाया गया है। कीमत P_0 से बदल कर P_1 हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप हमारा उपभोक्ता माँग वक्र के बिंदु A से बिंदु B पर पहुँच जाता है। अत: माँग की मात्रा Q_0 से बदल कर Q_1 हो जाती है। इसे किसी माँग वक्र पर एक बिंदु से दूसरे की ओर चलन भी कहा जाता है। इसे माँग की मात्रा में परिवर्तन कहते हैं। हम चित्र के दूसरे भाग में माँग में परिवर्तन का चित्रांकन कर रहे हैं। यहाँ संबद्ध वस्तुओं की कीमत उपभोक्ता की आय या फिर उसकी अभिरुचियों में परिवर्तन के प्रभाव स्वरूप पूरा माँग वक्र ही DD_0 से स्थान परिवर्तित कर DD_1 पर पहुँच गया है। यह खिसकाव ही माँग में परिवर्तन है।
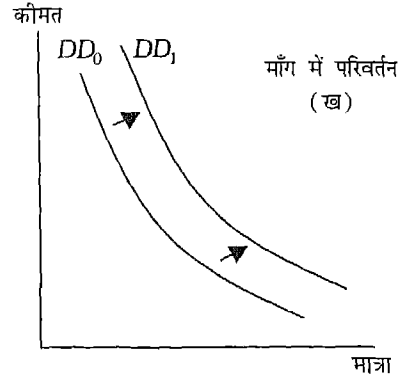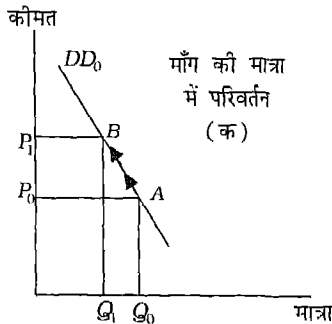
चित्र 2.6 : माँग की मात्रा में परिवर्तन बनाम माँग में परिवर्तन

2.3 बाजार माँग वक्र

अभी तक हम एक उपभोक्ता के संतुलन और उसकी किसी वस्तु के लिए माँग के निर्धारक तत्वों के विषय में ही बात कर रहे थे। हमारा अगला प्रश्न यह है कि हम किसी अर्थव्यवस्था में अथवा देश के किसी क्षेत्र विशेष में किसी वस्तु के सभी उपभोक्ताओं की सम्मिलित माँग वक्र की रचना कैसे करेंगे? यह अर्थव्यवस्था व्यापी माँग वक्र उस वस्तु का बाजार माँग वक्र कहलाता है। इसकी रचना सभी उपभोक्ताओं (व्यक्तियों और परिवारों) के माँग वक्रों को जोड़कर की जाती है।

आइए, हम एक उदाहरण द्वारा इस बाजार व्यापी माँग के विचार को और स्पष्ट करने का प्रयास करें। मान लो कि हम गुलाब जामुनों की बाजार माँग निर्धारित करना चाहते हैं। बाजार में केवल तीन उपभोक्ता हैं–अमर, अकबर और एंथनी। यदि गुलाब जामुन की कीमत तीन रुपए प्रति हो और अमर 5, अकबर 6 और एंथनी 8 गुलाब जामुन प्रति सप्ताह खरीद रहा हो तो 3 रुपए कीमत पर कुल बाजार माँग 19 इकाई होगी। अत: (3,19) युग्म बाजार माँग वक्र का एक बिंदु होगा। हम अन्य सभी संभव

कीमतों पर तीनों उपभोक्ताओं की संभावित माँगों का निर्धारण कर उन्हें जोड़कर समूची बाजार माँग वक्र के सभी बिंदुओं को जान सकते हैं। उन्हें मिलाने वाली रेखा ही बाजार माँग वक्र कहलाएगी।

ऐसे ही बाजार माँग वक्र की रचना के लिए हमने तालिका 2.8 बनाई है। स्तंभ युग्म (1, 2), (1, 3) और (1, 4) क्रमशः अमर, अकबर और एंथनी की अलग-अलग माँग तालिकाएँ हैं। हम प्रत्येक पंक्ति में दूसरे, तीसरे व चौथे स्तंभों में अंकित राशियों को जोड़कर पाँचवें स्तंभ की रचना करते हैं। अब हमारा स्तंभ युग्म (1, 5) हमें बाजार माँग तालिका प्रदान कर देता है।

तालिका 2.8

गुलाब जामुनों के लिए व्यक्तिगत और बाजार माँग

गुलाब जामुनों की कीमत रु.	अमर की माँग	अकबर की माँग	एंथनी की माँग	बाजार माँग
1	7	15	16	35
2	6	10	13	26
3	5	6	8	19
4	4	3	7	14
5	3	1	6	10
6	2	0	5	7

चित्र 2.7 में हम इस तालिका में दी गई तीनों व्यक्तिगत माँग तालिकाओं और बाजार माँग तालिका के बिंदुओं को अंकित कर उन पर आधारित माँग वक्र बना रहे हैं। तीनों उपभोक्ताओं, अमर, अकबर और एंथनी के माँग वक्रों को तो उनके नामों द्वारा ही निर्दिष्ट कर दिया गया है। सबसे दाहिनी ओर वाला वक्र *बाजार माँग वक्र* है। यह तीनों *व्यक्तिगत माँग वक्रों के क्षैतिज योगफल को दर्शाता है।*

बाजार माँग के निर्धारक कारक क्या होंगे? इसके मुख्य निर्धारक कारक तो वही हैं जिन्होंने व्यक्तिगत माँगों का निर्धारण किया है, हाँ एक अतिरिक्त निर्धारक और भी है—उपभोक्ताओं की संख्या। अतः कुल मिलाकर बाजार माँग के निर्धारक होंगे—

(क) वस्तु की अपनी कीमत एवं संबद्ध वस्तुओं की कीमतें,

(ख) सभी उपभोक्ताओं की आमदनियों के स्तर, इसे आय का वितरण भी कह सकते हैं,

(ग) उपभोक्ताओं की अभिरुचियाँ, और

(घ) वस्तु के खरीदारों/उपभोक्ताओं की संख्या या बाजार का आकार।[5]
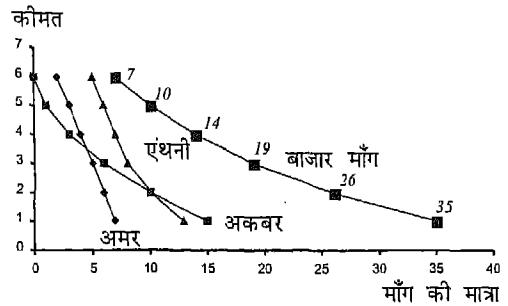
चित्र 2.7 : व्यक्तिगत और बाजार माँग वक्र

2.4 माँग की कीमत लोच

यह तो हम जान ही गए हैं कि किसी वस्तु की अपनी कीमत और उपभोक्ता की आय आदि का उस वस्तु की माँग पर प्रभाव पड़ता है। अभी तक हमारा ध्यान परिवर्तन की दिशा पर केंद्रित रहा है। हम यह आकलन करने का प्रयास करते रहे हैं कि कीमत या आय या फिर किसी अन्य कारक में परिवर्तन (वृद्धि या कमी) होने के फलस्वरूप माँग की मात्रा में वृद्धि होगी या कमी। आइए एक नई अवधारणा पर विचार करें। यह अवधारणा

[5] *आज अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भारत और चीन जैसे देशों में अपने उत्पादन के लिए बहुत लाभदायक बाजार मान रही हैं। उनका विचार है कि इन देशों की विशाल जनसंख्या का अर्थ है ग्राहकों की विशाल संख्या।*

माँग की लोच के नाम से जानी जाती है। इसमें माँग में आए परिवर्तन के परिमाणात्मक पक्ष पर बल दिया जाता है। इसे माँग की कीमत या आय आदि के प्रति *संवेदनशीलता* भी कहा जा सकता है। वस्तु की कीमत के प्रति माँग की लोच द्वारा हम कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप माँग की मात्रा में आने वाले परिवर्तन के परिमाण का निर्धारण कर सकते हैं।

2.4.1 परिभाषा और सूत्र

औपचारिक रूप से माँग की कीमत लोच की परिभाषा यह होगी–

(ग) माँग की कीमत लोच e_d =

$$(-)\frac{\text{माँग की मात्रा में \% परिवर्तन}}{\text{वस्तु की अपनी कीमत में \% परिवर्तन}}$$

इस अनुपात के साथ (–) चिह्न के प्रयोग का कारण यही है कि किसी माँग वक्र पर एक बिंदु से दूसरे की ओर जाने पर कीमत और मात्रा के परिवर्तन विपरीत दिशाओं में होते हैं। अतः अनुपात के साथ (–) चिह्न लगाने से e_d का मान धनात्मक हो जाता है। वैसे अनेक पुस्तकों में माँग की कीमत लोच को (–) चिह्न के बिना ही परिभाषित किया जाता है। इस चिह्न को लेकर भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। हमारी परिभाषा लोच के निरपेक्ष मान को दर्शाती है। प्रायः इसी मान को लोच कहा जाता है।

आइए अब किसी माँग वक्र पर किसी कीमत P_0 पर माँग की लोच का मान ज्ञात करने के लिए ऊपर लिखे सूत्र के आधार पर व्यावहारिक रूप से आकलन करने योग्य सूत्र की रचना करें। इस कीमत पर माँग वक्र के अनुसार वस्तु की Q_0 मात्रा की माँग होती है। कीमत में वृद्धि होकर वह P_1 हो जाती है। परिणामस्वरूप उपभोक्ता की माँग घटकर Q_1 रह जाती है। अतः कीमत और माँग की मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन क्रमशः ये होंगे–

$[(P_1 - P_0) \div P_0] \times 100$

तथा $[(Q_1 - Q_0) \div Q_0] \times 100$

या अतः सूत्र (C) का व्यावहारिक स्वरूप होगा–

$$(\text{घ}) \qquad e_d = \frac{(Q_1 - Q_0) \div Q_0}{(P_1 - P_0) \div P_0}$$

अधिकतर माँग की मात्रा और कीमत के परिवर्तन को दर्शाने के लिए हम ΔQ तथा ΔP चिह्नों का प्रयोग करते हैं। इनके प्रयोग करने पर सूत्र (घ) का स्वरूप भी कुछ बदल जाता है–

$$(\text{ङ}) \qquad e_d = \frac{\Delta Q \div Q_0}{\Delta P \div P_0}$$

आइए अब इसी बात को कुछ काल्पनिक आँकड़ों के उदाहरण द्वारा समझने का प्रयास करें। मान लो कि आपके शहर में रसगुल्ले पाँच रुपए प्रति की दर से मिलते हैं और प्रतिदिन शहरवासी 1200 रसगुल्ले खरीद लेते थे। किन्हीं कारणों से रसगुल्लों की कीमत में वृद्धि हो जाती है। अब हलवाई प्रति रसगुल्ला 5.50 रुपए माँगने लगे हैं। अब कुछ रसगुल्ले खाने वाले इस आदत को छोड़ देते हैं। अन्य लोग पहले की अपेक्षा कम संख्या में इनकी खरीदारी करते हैं। मान लो कि माँग घट कर 960 रसगुल्ला प्रतिदिन रह जाती है। यहाँ माँग की लोच का मान क्या होगा?

अब यह मान जानने के लिए हमें कुछ जमा-घटा आदि करना पड़ेगा। कीमत में प्रतिशत परिवर्तन होगा : $[(5.50 - 5.00) \div 5.00] \times 100 = 10$ इसी प्रकार से गणना करने पर माँग की मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन होगा : $[(960 - 1200) \div 1200] \times 100 = (-)\ 20$ । अतः माँग की लोच होगी :

$$e_d = \frac{(-)20}{10} = 2$$

टिप्पणियाँ

1. लोच के मापक में एक गुण का होना बहुत अच्छा माना जाता है। यह गुण है मापन की इकाइयों से निरपेक्षता। हमारा सूत्र इस गुण से संपन्न है। हम प्रतिशत परिवर्तनों का अनुपात आकलित कर रहे हैं। अतः हमारा लोच का मापक पूरी तरह से मापन की इकाइयों से स्वतंत्र रहता है।
2. यदि दो माँग वक्र परस्पर काट रहे हों तो उनके प्रतिच्छेदन बिंदु पर कम ढाल वाले माँग वक्र में अधिक लोचशीलता होती है। इसे हम चित्र 2.8 में समझा रहे हैं। DD तथा DD' दो माँग वक्र हैं और ये C बिंदु पर काट रही हैं। इस बिंदु के अनुरूप कीमत स्तर P_0 है। हमारा यह दावा है कि P_0 कीमत पर कम ढलवाँ माँग वक्र DD' पर माँग की लोच अधिक होगी। क्यों? ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यही है कि आरंभिक माँग की
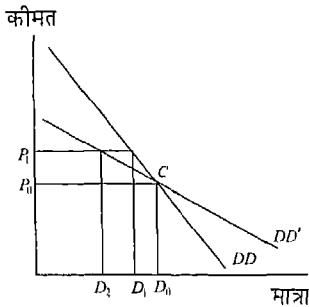
चित्र 2.8 : लोच की तुलना

मात्रा तो दोनों ही वक्रों के अनुसार D_0 रहती है, पर कीमत वृद्धि होने पर कम ढलवाँ माँग वक्र पर माँगी गई मात्रा में अधिक कमी आ जाती है। इस चित्र में हमें स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि कीमत P_1 होने पर DD में तो माँग की कमी D_1D_0 होती है–पर DD^1 के अनुसार यह कमी D_0D_2 हो जाती है। अतः दोनों माँग वक्रों के लिए कीमत का प्रतिशत परिवर्तन तो समान रहता है किन्तु माँग की मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन DD^1 वक्र के अनुसार अधिक हो जाता है।

3. लोच का मान जितना अधिक होगा वस्तु की माँग कीमत के प्रति उतनी ही अधिक संवेदनशील होगी। विशेषरूप से हम कह सकते हैं कि $e_d > 1$ का अर्थ है माँग में प्रतिशत परिवर्तन कीमत के प्रतिशत परिवर्तन से अधिक है। ऐसी अवस्था में हम कहते हैं कि माँग लोचशील है। इसके विपरीत $e_d < 1$ का अर्थ होगा की मात्रा का प्रतिशत परिवर्तन कीमत के प्रतिशत परिवर्तन से कम है। यहाँ माँग **लोचहीन** मानी जाती है। सामान्यतः विलासिता की वस्तुओं की माँग लोचशील होती है। आवश्यक वस्तुओं की माँग में लोचहीनता दिखाई देती है। अगर माँग वक्र प्रत्येक बिंदु पर $e_d = 1$ तो हम कहते हैं कि लोचशीलता **ऐकिक** है। ऐसी दशा में हम माँग वक्र को एक विशेष ज्यामितीय रचना द्वारा दिखा सकते हैं। यह रचना **आयतीय अतिपरिवलय** (Rectangular Hyperbola) है। ऐसा वक्र X तथा Y दोनों अक्षों की ओर सम्यक रूप से फैला रहता है और उन्हें कभी स्पर्श नहीं करता। हमारा चित्र 2.9 ऐसे ही एक माँग वक्र को दर्शा रहा है।
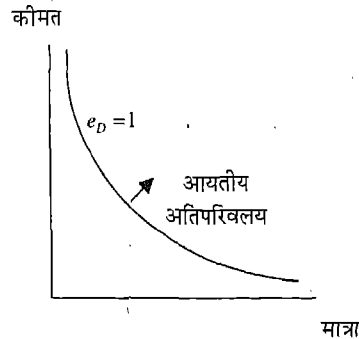
चित्र 2.9 : ऐकिक लोचशील माँग

4. दो और भी विशेष प्रकार के माँग वक्र होते हैं। यदि वस्तु अत्यंत ही आवश्यक हो, जैसे कि

किसी रोग की एकमात्र संभव दवा, तो फिर माँग वक्र ऊर्ध्व सरल रेखा (Vertical Straight Line) हो जाता है। वैसे यदि किसी व्यक्ति को दुर्भाग्यवश अफीम जैसी किसी नशीली दवा की लत पड़ जाए तो उसका माँग वक्र भी **नितांत आवश्यक** वस्तु की भांति ही लंब जैसे आकार का हो जाएगा। इस प्रकार का माँग वक्र कीमत के परिवर्तन के प्रति जरा भी संवेदनशील नहीं होता। अत: कहा जाता है कि **माँग पूरी तरह से लोचहीन है**। यह सत्य भी है। ऐसी वस्तु की कीमत में चाहे जितना परिवर्तन आ जाए, माँग की मात्रा अपरिवर्तित रहती है। हम ऐसे ही एक माँग वक्र को चित्र 2.10(क) में दिखा रहे हैं।
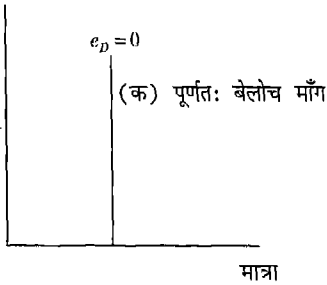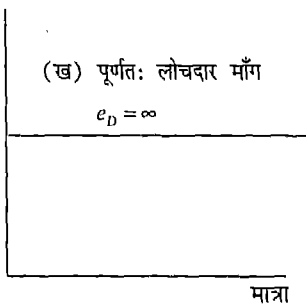
चित्र 2.10 : लोच = 0, और लोच = ∞

इसके एकदम विपरीत वह स्थिति है जब माँग वक्र एक क्षैतिज सरल रेखा बन जाता है। यहाँ कीमत में ज़रा-सा परिवर्तन माँग की मात्रा में अनंत (बहुत ही विशाल) परिवर्तन ला सकता है। अत: हम कहते हैं कि **माँग की लोच अनंत** है। चित्र 2.10(ख) में एक ऐसा माँग वक्र दिखाया गया है। हम अध्याय 4 में ऐसे माँग वक्रों का उदाहरण लेकर उनका आर्थिक भावार्थ भी स्पष्ट करेंगें

2.4.2 कीमत लोच के मान को प्रभावित करने वाले कारक

सामान्यरूप से माँग की कीमत के मान लोच को ये कारक प्रभावित करते हैं–

अच्छे प्रतिस्थापकों की सुलभता–यदि अनेक ऐसी वस्तुएँ आसानी से उपलब्ध हों जिनका किसी वस्तु के स्थान पर प्रयोग हो सकता हो, तो फिर उस वस्तु की कीमत में ज़रा-सी वृद्धि होते ही हम उन अन्य वस्तुओं में से किसी न किसी का प्रयोग आरंभ कर देंगे। अत: ऐसी वस्तुओं की माँग कीमत के प्रति बहुत अधिक संवेदनशील हो जाएगी। जिन वस्तुओं को आसानी से हम अपने उपभोग से निकाल नहीं सकते, अर्थात जिनके स्थान पर किसी और चीज़ का प्रयोग नहीं कर सकते, उनकी माँग अपेक्षाकृत बेलोच होती है। उदाहरण के लिए यही बात लोगों के मुख्य भोजन पर भी लागू होती है। भारत के बंगाल और उड़ीसा प्रांतों में लोग अधिकतर चावल भोगी होते हैं। उनका निर्वाह चावल के बिना नहीं होता। अत: वहाँ चावल की माँग प्राय: लोचहीन रहेगी। अधिक व्यापक संदर्भ में हम कह देते हैं कि **आवश्यक वस्तुओं की माँग लोचहीन होती है**। दूसरी ओर विलासिता की वस्तुओं या गतिविधियों की बात अलग है। उदाहरण के लिए किसी होटल में खाना खाने या बड़े आकार का टेलीविज़न खरीदने को इतना आवश्यक नहीं माना जा सकता। इनके बिना भी काम चल सकता है। ऐसी चीजों की माँग अपेक्षाकृत अधिक लोचशील होती है।

उपभोक्ता के कुल व्यय में वस्तु का महत्त्व–यदि उपभोक्ता अपने कुल व्यय का बहुत ही छोटा-सा अंश किसी वस्तु पर खर्च करता हो तो उसे वस्तु की कीमत में उतार-चढाव की विशेष चिन्ता नहीं होती। इस कारण से उस वस्तु की माँग प्राय: बेलोच हो जाती है। नमक ऐसी ही वस्तु का उदाहरण है। इसके विपरीत यदि किसी वस्तु की कीमत बहुत अधिक हो और वह आपके कुल व्यय के बहुत बड़े अंश के समान ही हो तो फिर आप उसकी कीमत के परिवर्तन के प्रति बहुत संवेदनशील हो जाएँगे। फिर तो आपकी उस वस्तु की माँग की कीमत लोच भी अधिक होगी।

आदतें–कुछ वस्तुएँ हमें अनावश्यक भले ही लगें पर संभव है कि समाज में कुछ लोग उनके अभ्यस्त हो चुके हों। ऐसे उपभोग में हम पंचतारा होटलों में खाना खाने को भी शामिल कर सकते हैं। यह काम कितने ही लोगों की दृष्टि में नितांत विलासितापूर्ण होगा, परंतु बहुत अमीर लोगों को इसकी आदत पड़ चुकी है। उनके लिए ऐसे होटलों में जाना बहुत जरूरी प्रतीत होता है। अत: उन लोगों की पंचतारा होटलों की दावतों की माँग बेलोच हो जाती है। इसी प्रकार अफीम के अभ्यस्त नशेबाजों के लिए इसकी माँग बहुत ही बेलोच होगी जबकि कभी-कभार अफीम का प्रयोग करने वालों की माँग लोचदार पाई जाएगी।

समय अवधि–अन्य सभी कारक अपरिवर्तित रहने पर जैसे-तैसे समय व्यतीत होता है सभी वस्तुओं की माँग में कुछ लोचशीलता आ ही जाती है। इसका एक बहुत बड़ा उदाहरण पैट्रोल है। 1970 के दशक में पहली बार तेल निर्यातक देशों ने अपना संगठन बना कर कच्चे तेल की कीमतों को तीन गुणा बढ़ा दिया था। उस कीमत वृद्धि से विश्व भर के तेल उपभोक्ताओं को बड़ा गहरा धक्का लगा था। अपनी ऊर्जा संबंधी आवश्यकता को पूरा करने के लिए उन्हें तत्काल कोई स्थानापन्न पदार्थ नहीं सूझा। दूसरे शब्दों में, तेल का कोई प्रतिस्थापक था ही नहीं। अत: उसकी माँग बहुत बेलोच रही। किंतु पिछले तीन दशकों में ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों का विकास हुआ है। अब तेल के प्रतिस्थापकों की उपलब्धिता में सुधार हो रहा है। इसी कारण तीस वर्ष पूर्व की तुलना में आज तेल की माँग अधिक लोचदार हो गई है।

अनेक अध्ययनकर्ताओं ने कई वस्तुओं की कीमत लोच का आकलन किया है। क्लिप 2.1 में हम ऐसे ही कुछ अनुमानों को संकलित कर रहे हैं।

2.4.3 लोच का मापन

परिभाषा के आधार पर कीमत लोच का मान ज्ञात किया जा सकता है। इसे लोच मापने की **प्रतिशत विधि** कहते हैं। यदि कीमत का परिवर्तन बहुत ही मामूली हो तो एक रेखा चित्रीय विधि द्वारा भी लोच को बहुत आसानी से मापा जा सकता है। आइए इस विधि को चित्र 2.11 की सहायता से समझने का प्रयास करें।
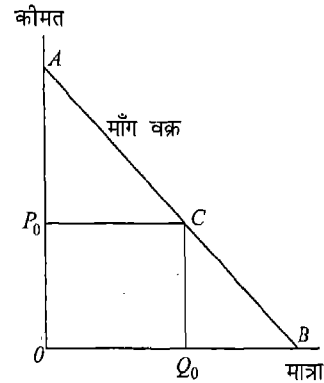
चित्र 2.11 : सरल रेखीय माँग वक्र के बिंदुओं पर माँग की लोच

चित्र 2.11 में एक सरल रेखीय माँग वक्र दिखाया गया है। यह कीमत और मात्रा अक्षों को क्रमश: A तथा B बिंदुओं पर छू रहा है। मान लो कि

Q_0 वस्तु की मात्रा की माँग P_0 कीमत पर हो रही है। दूसरे शब्दों में उपभोक्ता अपने माँग वक्र पर C बिंदु पर उपभोग कर रहा है। इस स्थिति में यदि कीमत में बहुत ही छोटा-सा परिवर्तन हो जाए तो कीमत लोच का अनुमान BC/AC द्वारा लगाया जा सकता है। इस रेखाचित्र आधारित विधि को माँग की लोच के मापन की **बिंदु विधि** कहा जाता है। दूसरे शब्दों, में *सरल रेखीय माँग वक्र पर किसी भी बिंदु पर माँग की लोच उस बिंदु द्वारा बनाए गए निचले रेखांश और ऊपर वाले रेखांश के अनुपात के समान होगी।*

इस विचार की पुष्टि का प्रमाण हमने परिशिष्ट 2 में दिया है। इस बिंदु लोच सूत्र से हमें यह भी जानकारी मिलती है कि जैसे-जैसे कीमत में वृद्धि होगी, निचले रेखांश के आकार में भी वृद्धि हो जाएगी। साथ ही ऊपरी रेखांश सिकुड़ जाएगा। परिणाम स्वरूप दोनों के अनुपात (निचला रेखांश/ऊपरी रेखांश)के मान में भी वृद्धि हो जाएगी। इस वृद्धि का अर्थ होगा की माँग की लोचशीलता में वृद्धि।[6,7,8]

2.4.4 कुल व्यय और कीमत लोच

कीमत लोच का विचार केवल यही नहीं बताता कि कीमत और मात्रा में किस प्रकार का परिमाणात्मक संबंध है। यह कीमत **परिवर्तन के फलस्वरूप वस्तु पर किए गए व्यय के** परिवर्तन की दिशा के विषय में भी जानकारी देता है।

आइए इस बात की व्याख्या करने के लिए एक बार अपने रसगुल्लों के बाजार में वापिस चलते हैं। अब हमारा प्रश्न होगा कि क्या रसगुल्लों की कीमत में वृद्धि हो जाने पर उन पर उपभोक्ताओं द्वारा खर्च की गई राशि में वृद्धि हुई (या कमी आई) है। परिभाषा की दृष्टि से **कुल व्यय** = कीमत × मात्रा। सूत्र के रूप में हम कुल व्यय को TE तथा कीमत और मात्रा को क्रमश: P और Q से दिखा सकते हैं। अत: TE = PQ होगा। आइए अब कुल व्यय का आकलन करें। प्रारंभ में कीमत 5 रुपए थी और बाजार में 1200 रसगुल्ले बिक रहे थे। अत: TE रहा 5 × 1200 = 6000 रुपए। कीमत 5.50 रुपए होने पर मात्रा घटकर 960 रह गई थी। दूसरे शब्दों में कुल व्यय घटकर 5.50 × 960 = 5280 रुपए रह गया था। यह कुल व्यय में कमी आने का प्रमाण है। यहाँ माँग की लोच का मान 2 है। अत: इस उदाहरण में रसगुल्लों की माँग लोचशील है और कीमत में वृद्धि आने पर कुल व्यय में कमी आ जाती है।

वास्तव में कीमत और कुल व्यय के ऐसे विपरीत परिवर्तन इस उदाहरण में ही नहीं होते। ये तो सामान्य व्यवहार है। जब भी माँग लोचदार होगी, कीमत और कुल व्यय में परिवर्तन इसी प्रकार **विपरीत** दिशा में होंगे। दूसरी ओर, यदि माँग बेलोच हो तो फिर कीमत में वृद्धि के कारण वस्तु पर किए गए व्यय में भी वृद्धि हो जाती है। एक विशेष अवस्था होती है ऐकिक लोच की। यहाँ कीमत परिवर्तन के बावजूद कुल व्यय अपरिवर्तित रहता है। इस अंतिम कथन को सहज ही चित्र 2.9 में दिखाई गई माँग से जोड़ा जा सकता है। वहाँ हमने ऐकिक लोच वाली वक्र दर्शाई थी। उस माँग वक्र के प्रत्येक बिंदु पर कुल व्यय एक समान रहता है।

---

[6] इस विधि से केवल सरल रेखीय माँग वक्रों की लोच का अनुमान लगाया जा सकता है।

[7] बिंदु B पर लोच का मान शून्य होगा और A पर अनंत।

[8] यदि माँग वक्र सरल रेखीय नहीं हो तो फिर बिंदु विधि द्वारा लोच का मान ज्ञात करने के लिए उस बिंदु पर माँग वक्र की स्पर्श रेखा का प्रयोग कर लिया जाता है। आपको इस बारे में अधिक विस्तृत जानकारी व्यष्टि अर्थशास्त्र की उच्च स्तरीय पुस्तकों में ही मिल जाएगी।

विलय 2-1

कीमत लोच के अनुमान (परीक्षा अनुपयोगी)

अनेक देशों में कितनी ही वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के प्रति लोचशीलता का आकलन किया गया है। हम ऐसे आकलनों में से पाँच की जानकारी आपको दे रहे हैं। इनमें से चार भारत से जुड़े हैं–पाँचवा आकलन संयुक्त राज्य अमेरीका का है।

तालिका की जानकारी स्पष्ट रूप से बता रही है कि खाद्यसामग्री और कपड़ों के लिए लोच का मान एक से कम है, ये आवश्यक वस्तुएँ हैं। चौथे क्रम पर दर्ज सेवा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। ये हैं सार्वजनिक फोन गृह (PCO) से लंबी दूरी की फोन सेवा सुविधाएँ। इसकी लोच इकाई से कम है। इससे हमें एक बहुत महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है–भारत जैसे देश में इस प्रकार लंबी दूरी की फोन सेवा सुविधाएँ भी एक आवश्यकता का रूप धारण कर चुकी हैं।

पाँचवें क्रम की प्रविष्टि यह दिखा रही है कि अमेरिका में गृह निर्माण के लिए भूमि की माँग लोचशील है। यह लोच 1.64 आंकी गई है।

	वस्तु/सेवा	कीमत लोच का अनुमान	अनुमानकर्ता (स्रोत)
1.	अनाज और इसके विकल्प (भारत)	0.544	मीनाक्षी तथा रॉय (1999)
2.	अन्य खाद्यपदार्थ (भारत)	0.804	मीनाक्षी तथा रॉय (1999)
3.	वस्त्र (भारत)	0.560	मीनाक्षी तथा रॉय (1999)
4.	सार्वजनिक टेलीफोन गृहों से लंबी दूरी की फोन सेवा (भारत)	0.580	दास और श्रीनिवासन(1999)
5.	फिलेडेल्फिया में आवास निर्माण हेतु भूमि (सं.रा.अमेरीका)	1.640	ग्योर्को एण्ड वोय (2001)

संदर्भ

1. दास.पी. तथा पी.वी. श्रीनिवासन, **डिमांड फोर टेलीफोन यूजेज़ इन इंडिया**, इन्फोर्मेशन इक्नॉमिक्स एण्ड पॉलिसी, 11,1999 पृष्ठ 177-194 ।
2. मीनाक्षी, जे.वी. तथा रंजन रॉय, **रीजनल डिफ्रेंसिज़ इन इंडियाज फूड ऐक्सपेंडीचर पैटर्नः ए कंपलीट डिमांड सिस्टमस ऐप्रोच**, जर्नल ऑफ इंटरनेशनल डिवेल्पमैंट, 11,1999 पृष्ठ 47-74 ।
3. ग्योंको, जे. तथा आर. वायद, **प्राइस इलास्टिसिटी ऑफ डिमांड फोर रेजीडेंशियल लैंडः ऐस्टीमेशन एंड सम इंप्लीकेशंस फोर अर्बन रिफार्म**, मिमियोग्राफ, व्हार्टन स्कूल ऑफ मैनजमैंट, 2001 ।

अत: हम कह सकते हैं कि कीमत और कुल व्यय के परिवर्तनों की दिशाओं में सामान्यत: एक विपरीतता बनी रहती है। यह विपरीतता माँग की लोच के मान पर निर्भर है। यदि माँग लोचदार है तो कीमत वृद्धि के कारण कुल व्यय में कमी आएगी। यदि लोच ऐकिक हो तो कुल व्यय स्थिर रहेगा। *यदि माँग बेलोच हो तो कुल व्यय में निश्चित रूप से वृद्धि होगी*। इसी संबंध की दिशा की विपरीतता को तालिका 2.9 में दिखाया गया है।

तालिका 2.9

कीमत परिवर्तन और कुल व्यय पर इसके प्रभाव

कीमत परिवर्तन	लोच	व्यय परिवर्तन
↑	$e_d > 1$	↓
↓	$e_d > 1$	↑
↑	$e_d < 1$	↑
↓	$e_d < 1$	↓
↑↓	$e_d = 1$	कोई परिवर्तन नहीं

यद्यपि बीजगणितीय विधियों का प्रयोग कर इस विपरीत संबंध की व्युत्पत्ति की जा सकती है, किंतु इस पाठ्यक्रम की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति अधिक कठिन मानी गई है। पर यह विचार बिना बीजगणित के सहारे भी सहज ही समझ आ सकता है। माँग के लोचदार होने का अर्थ होता है कि कीमत में थोड़े से परिवर्तन से ही मात्रा में बहुत बड़ा फेरबदल हो जाता है। अत: कुल व्यय भी उसी दिशा में परिवर्तित हो जाएगा जिसमें मात्रा में परिवर्तन आया है। आप जानते ही हैं कि कीमत और माँग की मात्रा के परिवर्तन विपरीत दिशा में होते है। इसी कारण से लोचदार माँग होने की दशा में कीमत वृद्धि के परिणामस्वरूप माँग में काफी गिरावट आती है, जिसके कारण से वस्तु पर हो रहे कुल व्यय में भी कमी आ जाती है। यदि माँग बेलोच हो तो परिणाम एकदम उलटा हो जाएगा। इस स्थिति में तो कीमत में भारी परिवर्तन के बावजूद माँग की मात्रा में बहुत कम बदलाव आएगा। अत: कुल व्यय भी उसी दिशा में परिवर्तित होगा जिसमें कीमत परिवर्तित हुई है। दूसरे शब्दों में, कीमत बढ़ने पर कुल व्यय में भी वृद्धि हो जाएगी।

अभी तक हम कीमत परिवर्तन की दिशा और वस्तु की माँग की लोच के आधार पर कुल व्यय के परिवर्तन की दिशा का निर्धारण कर रहे थे। इसी चर्चा का एक अन्य पक्ष यह भी होगा कि यदि हमें कीमत के परिवर्तन और कुल व्यय के परिवर्तन की दिशा ज्ञात हो तो हम माँग की लोच के विषय में अनुमान लगा सकते हैं। उदाहरणत: यदि कीमत वृद्धि के कारण वस्तु पर खर्च हुई राशि में भी वृद्धि हो जाए तो वस्तु की माँग निश्चित ही लोचहीन होगी। इस कथन की सत्यता की जाँच आप तालिका 2.9 से सहज ही कर सकते हैं।

कीमत की वृद्धि और किसी वस्तु पर कुल व्यय के बीच लोच द्वारा बनाया गया यह संबंध सूत्र व्यावहारिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। एक बार फिर रसगुल्ला बाजार चलिए। मान लो कि उस शहर में एक ही हलवाई की विशालकाय दुकान है जो रसगुल्ले बनाती और बेचती है। अगर हम आपको उस दुकान का मालिक बना दें, तो क्या आप रसगुल्लों की कीमत बढ़ाने से पहले यह नहीं सोचेंगे कि उस वृद्धि का आपकी कुल बिक्री (रुपयों में) पर क्या प्रभाव पड़ेगा। विक्रेता की दृष्टि से कुल विक्रय मूल्य को कुल आगम (TR) का नाम दिया जाता है। दुकानदार का कुल आगम उसके माल पर उपभोक्ता द्वारा किए गए कुल व्यय के समान ही होता है। अध्याय 4, 6 और 7 में हम प्राय: कुल आगम शब्द का ही प्रयोग करेंगे। अत: लोचशीलता, कीमत परिवर्तन और कुल व्यय अथवा आगम के परिवर्तन उत्पादक या फर्म की निर्णय प्रक्रिया की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं।

सार संक्षेप

- कुल उपयोगिता सीमांत उपयोगिताओं के योग के समान होती है।
- विवेकशील उपभोक्ता अपने उपभोग को उस मात्रा तक नहीं बढ़ाएगा जहाँ उसकी सीमांत उपयोगिता ऋणात्मक हो जाए।
- उपभोक्ता के संतुलन की स्थिति में उसकी कुल उपयोगिता के मौद्रिकमान और कुल व्यय का अंतर अधिकतम हो जाता है।
- उपभोक्ता के संतुलन की शर्त है कि सीमांत उपयोगिता के मौद्रिक मान और वस्तु की कीमत में समानता हो।
- माँग का नियम माँग वक्र की परिभाषा करता है। यह वक्र दाहिनी ओर ढालू होता है।
- ह्रासमान सीमांत उपयोगिता नियम के कारण ही माँग वक्र दाहिनी ओर ढलवाँ होता है।
- अन्य (संबद्ध) वस्तुओं की कीमतों, उपभोक्ता की आय तथा अभिरुचियों के परिवर्तन माँग वक्र की स्थिति में परिवर्तन ला देते हैं।
- एक प्रतिस्थापक वस्तु की कीमत में वृद्धि के कारण माँग में वृद्धि हो जाती है, अर्थात माँग वक्र दाहिनी (बाहर की) ओर खिसक जाता है। इसके विपरीत किसी प्रतिपूरक वस्तु की कीमत की वृद्धि के कारण माँग वक्र में बाईं (भीतरी) ओर खिसकाव आ जाता है।
- आय में वृद्धि के कारण माँग वक्र का दाहिनी या बाईं ओर खिसकाव इस बात पर निर्भर करेगा कि वह वस्तु सामान्य वस्तु है अथवा निष्कृष्ट ।
- वस्तु के प्रति रुचि में वृद्धि से माँग वक्र बाहर (दाईं ओर) खिसक जाता है, जबकि उसके प्रतिकूल रुचि परिवर्तन के कारण माँग वक्र भीतर (बाईं ओर) खिसक जाता है।
- व्यक्तियों की माँग वक्रों का क्षैतिज योग कर हमें बाजार माँग वक्र प्राप्त होता है।
- संबद्ध वस्तुओं की कीमतें, आय का वितरण, अभिरुचियाँ और बाजार का आकार बाजार माँग वक्र के निर्धारक माने जाते हैं।
- वस्तु की कीमत लोच का मान मापन की इकाइयों से स्वतंत्र होता है।
- जिस बिंदु पर दो माँग वक्र एक-दूसरे को काट रहे हों वहाँ कम ढालू माँग वक्र अधिक लोचदार होता है।
- जिस वस्तु के निकट प्रतिस्थापक अधिक सुविधा से मिल जाते हों उसकी माँग की कीमत लोच अधिक होती है
- सामान्यतः विलासिता सूचक वस्तुओं की माँग अधिक लोचदार होती है। आवश्यक वस्तुओं की माँग कम लोचदार होती है।
- किसी वस्तु पर यदि उपभोक्ता अपने कुल बजट का अच्छा बड़ा हिस्सा खर्च रहा हो तो उस वस्तु की माँग अधिक लोचदार होगी।
- जैसे-जैसे समय बीतता है, वस्तुओं की माँग का लचीलापन बढ़ जाता है।
- माँग वक्र ऊर्ध्व (क्षैतिज) होने की दशा में लोच का मान शून्य (अनंत) हो जाता है। यदि लोच सदैव ऐकिक हो तो माँग वक्र की रचना आयतीय अतिपरिवलय द्वारा अभिव्यक्त की जाती है।
- सरल रेखीय माँग वक्र के किसी बिंदु पर कीमत लोच का मान निचले रेखांश और ऊपरी रेखांश के अनुपात के समान होता है।
- यदि वस्तु की माँग लोचदार (बेलोच) हो तो उसकी कीमत में वृद्धि के कारण उस पर हो रहे कुल व्यय में कमी (वृद्धि) हो जाती है।
- ऐकिक लोच माँग की दशा में कीमत परिवर्तन का कुल व्यय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

▶▶▶ अभ्यास ◀◀◀

भाग-1

2.1 कुल उपयोगिता की परिभाषा लिखें।

2.2 सीमांत उपयोगिता की परिभाषा लिखें।

2.3 सीमांत उपयोगिता से कुल उपयोगिता का आकलन कैसे किया जाता है ?

2.4 ह्रासमान सीमांत उपयोगिता का नियम लिखें।

2.5 माँग का अर्थ बताएँ।

2.6 माँग के कोई दो निर्धारक तत्त्व बताएँ।

2.7 उन कारकों की सूची बनाएँ जिनके कारण माँग में परिवर्तन आते हैं।

2.8 माँग का नियम क्या है?

2.9 माँग तालिका क्या होती है?

2.10 परस्पर प्रतिस्थापक दो वस्तुओं का उदाहरण दें।

2.11 ऐसी दो वस्तुओं के नाम बताएँ जिनके उपभोग में प्रतिपूरकता पाई जाती है।

2.12 वस्तु X कीमत में वृद्धि के कारण की Y माँग में वृद्धि हो जाती है। इन वस्तुओं के बीच किस प्रकार का संबंध है?

2.13 यदि वस्तु X कीमत बढ़ने पर Y का उपभोग कम हो जाए तो इनके बीच क्या संबंध होगा?

2.14 माँग की कीमत लोच की परिभाषा लिखें।

भाग-2

2.15 किसी उपभोक्ता की कुल उपयोगिता सूची निम्न तालिका में दिखाई जा रही है। उसकी सीमांत उपयोगिता सूची की रचना करें :

उपयुक्त इकाइयाँ	कुल उपयोगिता
0	0
1	10
2	25
3	38
4	48
5	55

2.16 उपभोक्ता का संतुलन क्या होता है?

2.17 उपभोक्ता के संतुलन की शर्त बताइए ।

2.18 निम्न तालिका में एक उपभोक्ता की सीमांत उपयोगिता सूची दी गई है। यदि शून्य उपभोग की दशा में कुल उपयोगिता भी शून्य हो तो उसकी कुल उपयोगिता सूची की रचना करें।

उपयुक्त इकाइयाँ	कुल उपयोगिता
1	7
2	10
3	8
4	6
5	3
6	0

2.19 मान लो कि प्रारम्भ में उपभोक्ता संतुलन में है। यदि उसकी रुपयों की सीमांत उपयोगिता में वृद्धि हो जाए तो इसके परिणामस्वरूप वस्तु की माँग मात्रा में वृद्धि होगी या कमी?

2.20 मान लेते हैं कि एक आईसक्रीम की कीमत 30 रुपए है। आईसक्रीम की शौकीन लक्ष्मी पहले ही तीन खा चुकी है। तीन आईसक्रीम खाने पर उसकी सीमांत उपयोगिता 90 रही है। उसके एक रुपए की सीमांत उपयोगिता 3 है। क्या उसे और आईसक्रीम खानी चाहिए?

2.21 माँग के निर्धारकों की व्याख्या करें।

2.22 माँग पर तिरछे प्रभाव क्या होते हैं? दो आंकड़ों पर आधरित उदाहरणों द्वारा यह विचार स्पष्ट करें।

2.23 एक वस्तु का दूसरी वस्तु की प्रतिस्थापक होने का क्या अभिप्राय है?

2.24 एक वस्तु का दूसरी वस्तु की प्रतिपूरक होने का क्या अभिप्राय है?

2.25 प्रतिस्थापक और प्रतिपूरक वस्तुओं में भेद स्पष्ट करें।

2.26 कॉफी की कीमत में वृद्धि का चाय की माँग पर क्या प्रभाव होगा?

2.27 चाय की कीमत में वृद्धि का चीनी की माँग पर क्या प्रभाव होगा?

2.28 मान लें कि वस्तु A वस्तु B की प्रतिस्थापक है। B की कीमत में वृद्धि का A की माँग वक्र पर क्या प्रभाव होगा?

2.29 वस्तु A तथा B उपभोग में प्रतिपूरकता है। A की कीमत में वृद्धि का A की माँग वक्र पर प्रभाव समझाइए।

2.30 सामान्य तथा निष्कृष्ट वस्तुओं के दो-दो उदाहरण दें।

2.31 आय की वृद्धि का सामान्य वस्तु के माँग वक्र पर प्रभाव समझाइए।

2.32 आय वृद्धि का निकृष्ट वस्तु के माँग वक्र पर प्रभाव समझाइए।

2.33 परिभाषा दें—(क) प्रतिपूरक वस्तुएँ, (ख) प्रतिस्थापक वस्तुएँ, (ग) निष्कृष्ट वस्तुएँ, और (घ) सामान्य वस्तुएँ।

2.34 माँग की मात्रा में परिवर्तन और माँग में परिवर्तन का अंतर स्पष्ट करें।

2.35 व्यक्तियों के माँग वक्रों का प्रयोग कर बाजार माँग वक्र की रचना किस प्रकार की जाती है?

2.36 मान लो की **मुस्कान** नामक फल के चार उपभोक्ता हैं। उनके नाम हैं–ईशा, इरफान, इला और इबेमा। उनके **मुस्कान** के लिए माँग वक्र निम्न तालिका में दिए गए हैं। इस जानकारी के आधार पर बाजार माँग वक्र की रचना करें।

कीमत (रुपए)	ईशा की माँग	इरफान की माँग	इला की माँग	इबेमा की माँग
1	16	7	15	8
2	11	6	12	6
3	7	5	9	4
4	4	4	6	2
5	2	3	3	0
6	1	2	0	0

2.37 बाजार माँग के निर्धारिकों की व्याख्या करें।

2.38 व्यक्तिगत और बाजार माँग के बीच भेद स्पष्ट करें।

2.39 मान लो की शुरू में 10 रुपए कीमत पर किसी वस्तु की 1000 इकाइयाँ बिक रहीं थी। कीमत 14 रुपए होने पर उपभोक्ता उसकी केवल 500 इकाइयाँ खरीद रहे हैं। कीमत लोच का मान ज्ञात करें।

2.40 इनमें से किन वस्तुओं की माँग बेलोच होगी—नमक, कोई विशेष नाम वाला लिपिस्टिक, दवाई, मोबाइल फोन और स्कूल की वर्दी।

2.41 चित्रों द्वारा दर्शाएँ ?

(क) शून्य लोच (ख) ऐकिक लोच (ग) अनंत लोच।
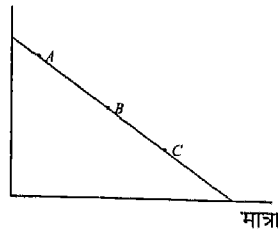
2.42 कोई सरल रेखीय माँग वक्र बनाएँ। इस पर तीन बिंदु अंकित कर उन पर माँग की लोच की तुलना करें।

2.43 निम्न माँग वक्र पर विचार करें। बिंदुओं a, b तथा c के बीच लोच की तुलना करें।

2.44 कीमत लोच 2 है। कीमत में प्रतिशत परिवर्तन 5% रहा है। मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन का आकलन करें।

2.45 कीमत लोच = 0.5 । मात्रा में % परिवर्तन = 4 । कीमत में कितने प्रतिशत परिवर्तन हुआ होगा?

2.46 मूँगफलियों के पैकेटों की कीमत 5% बढ़ने पर उनकी माँग में 8% कमी आ गई है। मूँगफलियों के पैकैटों की माँग की लोच के बारे में आप किस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे?

2.47 किसी वस्तु की कीमत में 7% कमी के कारण उस कुल खर्च पर में 3.5 % वृद्धि हो गई। उस वस्तु की माँग की लोच के बारे में आप किस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे?

2.48 फूल गोभी के 8% महँगी होने पर किसी परिवार का इस पर खर्च भी 8% ज्यादा हो गया। उस परिवार की फूल गोभी की माँग की लोच के विषय में आप क्या कहेंगे?

2.50 एक दाँतों का डॉक्टर दाँतों की सफाई की फीस 300 रुपए लेता था और हर महीने उस काम से 30000 रुपए कमाता था। पिछले महीने उसने फीस बढ़ाकर 350 रुपए कर दी, उसके पास कुछ कम ग्राहक आए फिर भी उसकी कुल कमाई 33250 रुपए रही। इस जानकारी के आधार पर हम दाँत सफाई सेवा की माँग की लोचशीलता के बारे में किस नतीजे पर पहुँच सकते हैं?

2.51 "यदि वस्तु की कीमत बढ़ती है तो परिवार को उस पर व्यय बढ़ाना ही पड़ेगा।" पक्ष या विपक्ष में तर्क दें।

2.52 आकलन करें कि निम्न परिवर्तनों (खिसकनों) के किसी वस्तु की बाजार माँग वक्र पर क्या प्रभाव होंगे–

(क) झारखंड प्रदेश में एक नया इस्पात का कारखाना लगने से बहुत से बेरोजगारों को काम मिल गया। इसका रंगीन और श्याम-श्वेत टेलीविजनों की माँग पर क्या प्रभाव होगा?

(ख) गोवा में पर्यटन को बढ़ावा देने के उद्देश्य से भारत सरकार चार महानगरों–चेन्नई, कोलकाता, मुंबई और दिल्ली से ग़ोवा की हवाई यात्रा का किराया कम करने का निर्देश इन्डियन एयर लाइंस को देती है। यह एयर लाइंस ये कमी कर देती है। इसका गोवा की हवाई यात्रा की बाजार माँग वक्र पर क्या प्रभाव होगा?

(ग) दिल्ली और जयपुर के बीच बस और रेल सेवाएँ चल रही हैं। यदि रेल भाड़ा कम कर दिया जाए तो इन शहरों के बीच बस सेवाओं के माँग वक्र पर क्या प्रभाव होगा?

भाग-2

2.53 व्यक्तिगत माँग वक्रों से बाजार माँग वक्र की व्युत्पत्ति समझाइए। बाजार माँग के निर्धारक भी बताइए।

2.54 यह समझाइए कि उपभोक्ता संतुलन वहीं क्यों होता है जहाँ उसकी किसी वस्तु से प्राप्त सीमांत उपयोगिता का मौद्रिकमान वस्तु की बाजार कीमत के समान हो।

2.55 किसी बाजार में तीन ही उपभोक्ता हैं—लियेंडर, आंद्रे तथा टिम। उनकी माँग सूचियाँ निम्न तालिका में दर्ज की गई हैं।

कीमत	लियेंडर की माँग	आंद्रे की माँग	टिम की माँग
1	60	55	24
2	50	40	13
3	40	25	5
4	30	10	0
5	20	0	0

(क) बाजार माँग सूची बनाएँ और माँग वक्र को रेखांकित करें

(ख) आंद्रे इस बाजार को छोड़ जाता है। नया बाजार माँग वक्र बनाए।

(ग) मान लो कि आंद्रे बाजार में टिका रहता है और एक नया ग्राहक भी आ जाता है। उसका नाम भारत है। भारत प्रत्येक कीमत स्तर पर लियेंडर से आधी मात्रा में खरीदारी करता है। अब नया माँग वक्र बनाइए।

2.56 माँग वक्र दाहिनी और ढलवाँ क्यों होता है ?

2.57 माँग की कीमत लोच के आकार को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या करें।

इकाई-III

उत्पादक का व्यवहार और आपूर्ति

उत्पादन और लागत

अध्याय 3

3.1 उत्पादन

3.2 लागत

पिछले अध्याय (अध्याय 2) में हमने उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन किया था। अगले दो अध्यायों (3 तथा 4) में हमारे विचार उत्पादकों के व्यवहार पर केंद्रित रहेंगे। वर्तमान अध्याय में हम उत्पादन और उत्पादन की लागतों के विषय में बातचीत करेंगे।

किसी भी उत्पादक या फर्म का व्यवसाय में होना केवल एक ध्येय से प्रेरित रहता है–उसे अधिकतम लाभ कमाना है। सीधी परिभाषा के रूप में तो फर्म द्वारा कमाया गया **लाभ** उसके कुल आगम तथा कुल लागतों का अन्तर होता है। एक उदाहरण–मान लीजिए कि आप हथौड़े बनाने का व्यवसाय करते हैं। किसी महीने आपने 500 हथौड़े बना कर बेचे हैं। प्रत्येक हथौड़ा बाजार में 20 रुपए में बिका है। अत: आपका इस महीने का कुल आगम = कीमतें × हथौड़ों की संख्या के समान होगा, अर्थात् 20 × 500 = 10000 रुपए।

हथौड़ों के निर्माण के लिए आपको कई आदानों का प्रयोग करना पड़ा होगा, जैसे श्रम, फैक्ट्री का भवन, मशीनें और कच्चा माल आदि। इनके बीच के संबंध प्रौद्योगिकी पर आधारित होते हैं; अर्थात् किस उत्पादन के लिए किन आदानों का किस-किस अनुपात में प्रयोग हो सकता है, यह सब तकनीकी ज्ञान पर आधारित रहता है। साथ ही एक अन्य पक्ष भी महत्त्वपूर्ण होता है–ये आदान या संसाधन मुफ्त नहीं मिलते। उत्पादक को इनके प्रयोग के लिए कुछ न कुछ दाम चुकाने पड़ते हैं। सभी आदानों की सेवाओं के प्रयोग के बदले में किए गए भुगतानों का योगफल ही कुल उत्पादन लागत कहलाती है। मान लीजिए कि आपकी 500 हथौड़ों के उत्पादन पर कुल लागत 6500 रुपए रही। अत: आपका लाभ होगा– 10000–6500 = 3500 रुपए।

हमारा उपर्युक्त उदाहरण कई प्रकार के महत्त्वपूर्ण अंतर्संबंधों की ओर संकेत करता है। एक पक्ष तो यही है कि वस्तु के बाजार से प्राप्त कुल आगम तथा **उत्पादन** की मात्रा के बीच स्पष्ट संबंध दिखाई पड़ता है। दूसरे, उत्पादन का तकनीकों के माध्यम से आदानों के साथ संबंध भी अच्छी तरह से उजागर हो जाता है। उत्पादन और आदानों के बीच के इस तकनीकी संबंध को **उत्पादन फलन** का नाम दिया जाता है (हम इसकी औपचारिक परिभाषा अगले कुछ पृष्ठों में करने जा रहे हैं)। यही नहीं, एक और बात भी स्पष्ट हो जाती है—आदानों की सेवा, उनसे काम लिए जाने (उन्हें रोजगार पर लगाने) के कारण ही उन्हें कुछ प्राप्ति होती है। उत्पादक उन्हीं आदानों के लिए भुगतान करता है जिनकी सेवाएँ उसके उत्पादक कार्य में प्रयोग की जाती हैं। इस प्रकार हम उत्पादन और उत्पादन की लागतों के बीच की श्रृंखला की सभी कड़ियों को जोड़ने में सफल हो जाते हैं।
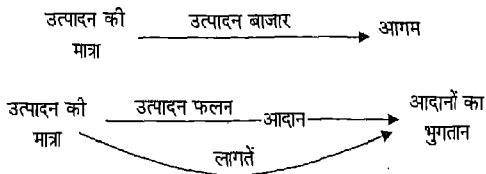
चित्र 3.1 : अंतर्संबंध

चित्र 3.1 इन्हीं अंतर्संबंधों या श्रृंखला को पूरा करने वाली कड़ियों को दर्शा रहा है। अध्याय के भाग 3.1 में हम आदानों और उत्पादन के संबंधों पर विचार करेंगे। उत्पादन और आगम के संबंधों की चर्चा अध्याय 4 (और किसी न किसी रूप में अध्याय 6) में होगी।

3.1 उत्पादन

3.1.1 उत्पादन फलन

इस खंड का सबसे महत्त्वपूर्ण विचार या अवधारणा उत्पादन फलन है। *इसे उस तकनीकी संबंध के रूप में परिभाषित किया जाता है जो विभिन्न आदान संयोजनों द्वारा उत्पादन की अधिकतम संभव मात्राओं का निरूपण करता है।*

उदाहरण के लिए हम मान लेते हैं कि कोई फर्म केवल दो आदानों का प्रयोग करती है, श्रम, जिसे घंटों में मापा जाता है तथा भूमि जिसे हम एकड़ों में माप सकते हैं। हम तालिका 3.1 में कुछ श्रम-भूमि संयोजन तथा उनके प्रयोग से प्राप्त उत्पादन दिखा रहे हैं। यदि एक श्रमिक 2 एकड़ भूमि पर एक घंटा कार्य करे तो अधिकतम पाँच इकाई उत्पादन संभव है। इसी प्रकार 4 एकड़ भूमि पर 2 घंटे श्रम के प्रयोग से 11 इकाई उत्पादन हो सकता है। यह क्रम इसी तरह चलता रहता है। हम यह भी मानते हैं कि सामान्यतः सभी आदान अपनी पूरी क्षमतानुसार काम करते हैं। इसीलिए हम अधिकतर **अधिकतम संभव उत्पादन** के स्थान पर केवल **उत्पादन** शब्द का प्रयोग कर लेते हैं। अर्थात हम यही मानते हैं कि उत्पादन सदा उतना ही होता है जितना कि अधिकतम हो सकता है। इसीलिए कहा जा सकता है कि दो घंटे के श्रम और 4 एकड़ भूमि मिलकर 11 इकाई उत्पादन करते हैं।[1]

तालिका 3.1

उत्पादन फलन

	श्रम (घंटों में)	भूमि (एकड़ों में)	उत्पादन (इकाइयों में)
A	0	0	0
B	1	2	5
C	2	4	11
D	3	6	18
E	4	8	24
F	5	10	30
G	6	12	35
H	7	14	40

[1] *इस तालिका में आदानों एवं उत्पादन के कुछ संयोजन दिखाए गए हैं, इनके अतिरिक्त भी अनेक संयोजन संभव हैं।*

एक बात पर विशेष ध्यान दें–उत्पादन फलन का विचार केवल दो आदानों तक सीमित नहीं रहता। इसमें पूँजी, कच्चे माल आदि अन्य आदानों को भी सम्मिलित किया जा सकता है।[2]

3.1.2 साधन के प्रतिफल

हम आदानों के लिए बहुधा **उत्पादन के साधन** वाक्याँश का प्रयोग भी कर लेते हैं। अतः किसी आदान के प्रयोग से उत्पादन पर प्रभाव को आदान या साधन का प्रतिफल कहते हैं। हमने जिस प्रकार उत्पादन फलन की तालिका (तालिका 3.1) की रचना की गई है उससे उत्पादन के कार्य में किसी एक साधन का योगदान बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता। इसका एक उचित तरीका यही होगा कि एक आदान का प्रयोग **स्थिर** या अपरिवर्तित रखते हुए दूसरे आदान के प्रयोग में परिवर्तनों का कुल उत्पादन पर प्रभाव आकलित किया जाए। इस प्रक्रिया में तीन अवधारणाएँ विकसित हो जाती हैं–कुल भौतिक उत्पादन, सीमांत भौतिक उत्पादन और औसत भौतिक उत्पादन।

पहला विचार है **कुल या सकल उत्पादन** अथवा **कुल भौतिक उत्पादन (TPP)**। यह अन्य साधनों का प्रयोग स्थिर रखते हुए किसी एक साधन के विभिन्न प्रयोग स्तरों पर हुए कुल उत्पादन की इकाइयों की संख्या को दर्शाता है। दूसरी अवधारणा **सीमांत उत्पादन** अथवा **सीमांत भौतिक उत्पादन (MPP)** है। यह कुल भौतिक उत्पादन में (अन्य आदानों का प्रयोग अपरिवर्तित रहने पर) केवल एक आदान के प्रयोग में प्रति इकाई परिवर्तन के कारण हुई वृद्धि की है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि **केवल एक आदान के प्रयोग के परिवर्तन के कारण उत्पादन वृद्धि की दर को उस आदान का सीमांत उत्पादन कहते हैं**। जिस आदान या साधन का प्रयोग घट-बढ़ रहा हो उसे परिवर्तनशील या परिवर्ती साधन कहा जाता है।[3]

हमारा तीसरा विचार **औसत उत्पादन** अथवा **औसत भौतिक उत्पादन (APP)** है। **इसे कुल उत्पादन प्रति इकाई परिवर्ती साधन का नाम दिया जा सकता है**। एक सूत्र के रूप में हम कह सकते हैं–APP = TPP/L जहाँ-जहाँ श्रम (L) परिवर्ती साधन हो। दूसरे शब्दों में औसत उत्पादन कुल उत्पादन तथा परिवर्ती साधन की इकाइयों का अनुपात होता है।

उत्पादन के इन्हीं तीन विचारों को साधन के कुल, सीमांत और औसत प्रतिफल भी कहा जाता है।

हम तालिका 3.2 में कुछ आँकड़ों की सहायता से श्रम (L) के कुल भौतिक उत्पादन का विचार दर्शा रहे हैं।

तालिका 3.2

एक कुल भौतिक उत्पादन तालिका

श्रमिकों की संख्या (L)	कुल भौतिक उत्पादन (TPP)
0	0
1	10
2	22
3	33
4	43
5	51
6	56
7	56
8	48
9	36

[2] *हम कुशल और अकुशल श्रम में भी भेद कर सकते हैं।*

[3] *ध्यान दें कि ये दोनों विचार अध्याय 2 के कुल तथा सीमांत उपयोगिता से मिलते-जुलते हैं।*

TPP तालिका का रेखांकन करने पर हमें सकल भौतिक उत्पादन वक्र प्राप्त हो जाता है। तालिका 3.2 की जानकारी पर आधारित TPP वक्र को हमने चित्र 3.2 में प्रस्तुत किया है।
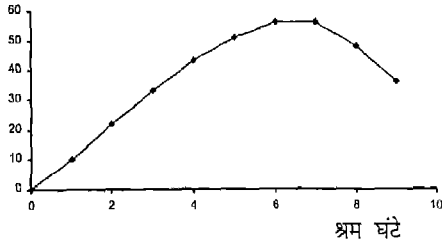
चित्र 3.2 : तालिका 3.2 के आधार पर बना कुल भौतिक उत्पाद वक्र

जिस प्रकार अध्याय 2 में कुल उपयोगिता से सीमांत उपयोगिता का आकलन किया गया था उसी प्रकार हम कुल उत्पादन से सीमांत उत्पादन के आँकड़ों की गणना कर सकते हैं। उदाहरण के लिए श्रम की दूसरी इकाई का प्रयोग करने पर कुल उत्पादन 10 से बढ़कर 22 होगा। ध्यान दें कि L = 1 तो TPP = 10 तथा L = 2 तो TPP = 22। अतः L = 2 होने पर– MPP $TPP_{L=2} - TPP_{L=1}$ अर्थात 22 – 10 = 12 होगा। तालिका 3.3 में हम स्तंभ 2 में तालिका 3.2 के सकल उत्पाद के आँकड़ों के आधार पर सीमांत उत्पाद तथा स्तंभ 3 में औसत उत्पादन के आँकड़ों का आकलन कर रहे हैं। इन MPP तथा APP की तालिकाओं के आँकड़ों को रेखाचित्र में अंकित करने पर हमें MPP वक्र तथा APP वक्र प्राप्त होंगे। तालिका 3.3 की जानकारी पर आधारित इन वक्रों की रचना चित्र संख्या 3.3 तथा 3.4 में की गई है।

तालिका 3.3

सीमांत भौतिक और औसत भौतिक उत्पाद

श्रम (घंटों में) (L)	सीमांत भौतिक उत्पाद (MPP)	औसत भौतिक उत्पाद (APP)
0	–	–
1	10	10
2	12	11
3	11	11
4	10	10.75
5	8	10.20
6	5	9.33
7	0	8
8	(–) 8	6
9	(–) 12	4

सीमांत भौतिक उत्पादन
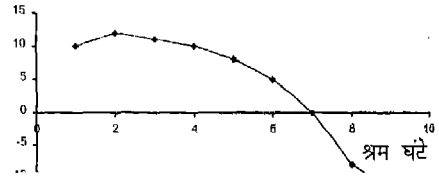
चित्र 3.3 : तालिका 3.3 पर आधारित सीमांत भौतिक उत्पाद वक्र

औसत भौतिक उत्पादन
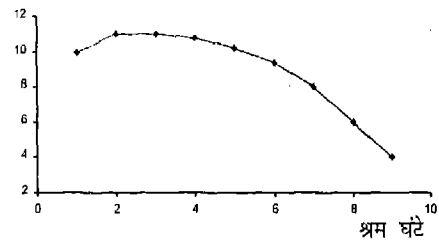
चित्र 3.4 : तालिका 3.3 पर आधारित औसत भौतिक उत्पाद वक्र

इन बातों पर ध्यान दें–

1. ये कहना ठीक नहीं होगा कि TPP, MPP तथा APP की अवधारणा किसी एक आदान (श्रम) पर ही लागू होती है या यह विचार भूमि अथवा मशीनों आदि के लिए मान्य नहीं होता। यह विचार सभी संसाधनों के लिए मान्य होता है, बस इतना ध्यान रखना है कि जब किसी साधन के TPP, MPP और APP का आकलन करें तो उस साधन के अतिरिक्त अन्य सभी साधनों का प्रयोग स्थिर रहेगा।
2. आपने देखा ही है कि MPP वास्तव में TPP में होने वाली वृद्धियों को ही सूचित करता है। अत: सभी MPP का योगफल TPP के समान हो जाएगा। आपको ध्यान होगा कि इसी प्रकार हमने सीमांत उपयोगिताओं के जोड़ को कुल उपयोगिता के समान पाया था। हमारी तालिका 3.2 में L = 3 पर TPP = 33 । यदि L = 1, L = 2 तथा L = 3 की दशा में MPP के आँकड़ों को जोड़ें तो यह योगफल भी 33 ही होता है।
3. MPP को हम TPP में हो रही वृद्धि के रूप में स्वीकार कर चुके हैं। अत: इसके धनात्मक होने की दशा में TPP में वृद्धि होगी और यदि MPP का मान ऋणात्मक हो जाए तो TPP में गिरावट आने लगेगी। इस संबंध को भी हमारी तालिकाओं 3.2 तथा 3.3 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। तालिका 3.2 में श्रम प्रयोग L = 6 तक TPP में निरंतर वृद्धि हो रही है। आप देख सकते हैं कि इस स्तर तक तालिका 3.3 में MPP भी धनात्मक रहती है। दूसरी ओर जब तालिका 3.2 में L = 8 के बाद TPP घटने लगती है तो तालिका 3.3 में उन श्रम प्रयोग स्तरों पर MPP का मान भी ऋणात्मक हो जाता है।
4. हमने उपर्युक्त उदाहरण में TPP के आधार पर MPP तथा APP की व्युत्पत्ति की है। वास्तव में यदि हमारे पास इन तीनों में से किसी एक के विषय में पूरी जानकारी हो तो शेष दोनों के आँकड़ों की उसके आधार पर रचना कर सकते हैं। मान लो कि हमारे पास विभिन्न श्रम प्रयोग स्तरों पर MPP की जानकारी है, तो हम उत्तरोत्तर योग की विधि से उन सभी स्तरों पर TPP का आकलन कर सकते हैं। जैसे ही TPP की तालिका बनती है, उसकी प्रविष्टियों को परिवर्ती साधन की संगत इकाइयों से भाग देकर APP का आकलन किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि APP विषयक जानकारी उपलब्ध हो तो प्रत्येक परिवर्ती साधन प्रयोग पर APP को साधन की इकाइयों से गुणा कर हमें TPP के आँकड़े मिल जाएँगे। उन पर MPP की परिभाषा का प्रयोग कर हम सहज ही MPP की गणना कर सकेंगे।

परिवर्ती अनुपातों का नियम तथा ह्रासमान प्रतिफलों का नियम

इस अध्याय में आगे चलकर एक बात बहुत स्पष्ट हो जाएगी–हमारे आर्थिक विश्लेषण की दृष्टि से सीमांत भौतिक उत्पाद वक्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वक्र है। यही बात अगले अध्याय में भी पुष्ट होगी। चित्र 3.3 से साफ-साफ पता चल रहा है कि जैसे-जैसे हम परिवर्ती साधन का प्रयोग बढ़ाते हैं, पहले MPP में वृद्धि होती है फिर यह कम होने लगती है और आखिर में पहुँचकर यह ऋणात्मक हो जाती है। MPP द्वारा प्रदर्शित इसी **व्यवहार** को **परिवर्ती अनुपातों का नियम** कहा जाता है। एक अन्य दृष्टि से यह नियम उत्पादन के तीन सोपानों या चरणों की व्याख्या करता है। पहले सोपान में परिवर्ती साधन का प्रयोग स्तर बहुत कम रहता है, वहाँ इसकी MPP में वृद्धि होती है। दूसरे सोपान में MPP कमी आने लगती है,

पर इसका मान धनात्मक बना रहता है। तीसरी स्थिति में पहुँच कर तो MPP ऋणात्मक ही हो जाती है। हमारे उदाहरण में पहला सोपान L = 2 तक रहता है। दूसरी स्थिति L = 3 से L = 7 तक चलती है। तीसरा चरण L = 8 से शुरू हो जाता है।

एक और बात पर भी ध्यान दें। पहले और दूसरे सोपान में TPP में वृद्धि हो रही है यहाँ MPP धनात्मक है। किंतु तीसरे सोपान में MPP ऋणात्मक होने के कारण TPP में भी गिरावट आने लगती है।

इस परिवर्ती साधन प्रतिफल नियम के साथ ही इससे जुड़ा एक अन्य महत्त्वपूर्ण नियम भी है। इसे **ह्रासमान सीमांत उत्पादिता का नियम** या **ह्रासमान साधन प्रतिफलों का नियम** कहते हैं (यह भी ह्रासमान सीमांत उपयोगिता नियम जैसा ही है)। बहुधा इस नियम को ह्रासमान प्रतिफल नियम कहना ही पर्याप्त रहता है। इस नियम के अनुसार *अन्य साधनों का प्रयोग स्थिर रहने पर यदि एक साधन के प्रयोग में वृद्धि की जाती है तो एक स्तर के बाद सीमांत भौतिक उत्पादन में कमी आने लगती है।*

इस नियम को चित्र 3.5 में और अधिक स्पष्ट किया जा रहा है। हम मान लेते हैं कि साधन का प्रयोग पूर्णांकीय इकाइयों की भांति परिवर्तित नहीं होता, वह किसी रेखा के बिंदुओं की भांति सतत् रूप से घटाया, बढ़ाया जा सकता है। इस मान्यता के परिणामस्वरूप हमारे TPP, MPP तथा APP वक्र भी सतत् या अविच्छिन्न बन जाएँगे। ऐसा ही एक सतत् MPP वक्र चित्र 3.5 में दिखाया गया है। 0 से A बिंदु तक MPP में वृद्धि हो रही है। इस पर प्रथम सोपान (Stage- I) अंकित किया गया है। A से B तक दूसरा सोपान है, इसमें MPP में कमी आ रही है। बिंदु B के बाद तीसरा सोपान चलता है वहाँ MPP ऋणात्मक हो जाती है। ह्रासमान प्रतिफल का नियम दूसरे और तीसरे सोपानों में लागू रहता है।

परिवर्ती अनुपातों और ह्रासमान प्रतिफलों के नियम मूलरूप से एक ही तथ्य पर आधारित हैं। अन्य साधन अपरिवर्तित रहते हुए केवल एक साधन के प्रयोग में परिवर्तन करने पर प्रारंभ में साधनों का परस्पर अनुपात अधिक अनुकूल होने लगता है। जैसे-जैसे परिवर्ती साधन का प्रयोग बढ़ाया जाता है, एक स्तर से आगे चलकर इसकी बहुतायत हो जाती है और अन्य साधनों की मात्रा इसकी पूरी क्षमता का भरपूर उपयोग करने के लिए आवश्यक स्तर से कम पड़ने लगती है। यहीं से साधन अनुपात दक्षतापूर्वक उत्पादन करने में सक्षम नहीं रहते।
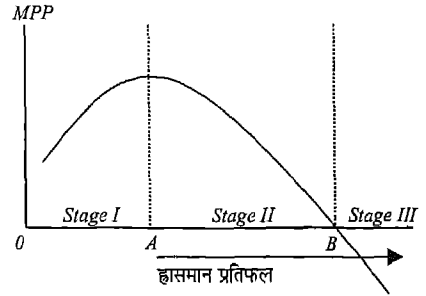
चित्र 3.5 : उत्पादन के तीन सोपान और ह्रासमान प्रतिफल

उत्पादन के इन तीन सोपानों का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ यह होगा कि अधिकतम लाभ कमाने की इच्छुक फर्म कभी भी तीसरे सोपान में उत्पादन नहीं करना चाहेगी। इसके दोहरे कारण है–एक तो परिवर्ती साधन की अधिक इकाइयाँ प्रयोग करने के लिए उसके पारिश्रमिक के रूप में किए गए अधिक भुगतान फर्म की कुल लागतों में वृद्धि करते हैं। दूसरे, उत्पादन पहले से कम रह जाता है, जिसकी बिक्री से बाजार प्राप्त आगम या कुल राजस्व भी कम रह जाता है। इसका सीधा अर्थ होगा फर्म के लाभ में कमी जो उसके ध्येय के अनुकूल नहीं रहता।

एक बात और भी है। वह यहाँ तो इतनी स्पष्ट नहीं हो पा रही किंतु अध्याय 7 में हम उसकी

विस्तार से व्याख्या करेंगे। यह बात है–एक अधिकतम लाभ कमाने की इच्छुक फर्म प्रथम सोपान में भी काम करती नहीं रह जाएगी। इस प्रकार दूसरा सोपान ही बचता है–यहाँ साधन का सीमांत प्रतिफल धनात्मक तो है पर उसमें कमी आ रही है। फर्म के कार्य-कलापों की दृष्टि से यही सोपान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

एक अन्तिम बात और–ह्रासमान प्रतिफलों के नियम की एक अन्य व्युत्पत्ति भी है–MPP वक्र का आकार उलटे U अक्षर जैसा होता है। इसी कारण APP का आकार भी इसी प्रकार का बन जाता है।

3.1.3 पैमाने के प्रतिफल

अभी तक हमारी चर्चा अन्य साधनों का प्रयोग अपरिवर्तित रख केवल एक साधन के प्रयोग के परिवर्तन के उत्पादन पर प्रभावों की समीक्षा तक सीमित रही है। यदि सभी साधनों के प्रयोग में एक साथ एक ही अनुपात में वृद्धि कर दी जाए तो उसका क्या प्रभाव होगा? मान लो सभी साधनों का प्रयोग 20 प्रतिशत बढ़ा दिया जाए तो उत्पादन में कितने प्रतिशत वृद्धि होगी? इस प्रकार के परिवर्तनों और उनके प्रभावों की व्याख्या **पैमाने के प्रतिफलों** की संकल्पना के माध्यम से की जाती है। ये तो हम जानते हैं कि सभी संसाधनों का प्रयोग बढ़ाने पर उत्पादन भी बढ़ेगा, पर यह वृद्धि कितनी होगी? क्या यह (क) 20 प्रतिशत से अधिक होगी; (ख) 20 प्रतिशत से कम रह जाएगी; या फिर (ग) 20 प्रतिशत ही होगी। ये तीनों संभावनाएँ (क), (ख) और (ग) क्रमश: पैमाने के वृद्धिमान प्रतिफलों, ह्रासमान प्रतिफलों और स्थिर प्रतिफलों को दर्शाते हैं। इसी विचार को हम इस प्रकार भी रख सकते हैं– *सभी साधनों का प्रयोग एक ही अनुपात में बढ़ाए जाने पर यदि उत्पादन में उस अनुपात से अधिक (कम) वृद्धि हो तो पैमाने के वृद्धिमान (ह्रासमान) प्रतिफल की अवस्था होगी। यदि उत्पादन भी उसी अनुपात में बढ़े जिस अनुपात में सभी संसाधनों के प्रयोग में वृद्धि की गई है तो यह पैमाने के स्थिर प्रतिफल की स्थिति होगी।*

इन **वृद्धिमान**, **ह्रासमान** और **स्थिर** प्रतिफलों को उत्पादन में वृद्धि, कमी या स्थिरता मान लेना गलत होगा। जब सारे साधनों के प्रयोग में वृद्धि होती है तो उत्पादन में वृद्धि तो अवश्य ही होगी।[4]

तालिका 3.1 में दर्शाया गया उत्पादन फलन तीनों प्रकार के पैमाने के प्रतिफल को स्पष्ट कर रहा है। इसमें B से D तक के संयोजन वृद्धिमान प्रतिफल प्रदर्शित कर रहे हैं। हमारे संयोजन B में श्रम की एक, और भूमि की दो इकाइयाँ 5 इकाई उत्पादन कर रही हैं। संयोजन C में दोनों आदानों का प्रयोग दुगुना हो जाता है साथ ही उत्पादन दुगुने से अधिक, यानि 11 इकाई पर पहुँच जाता है। इसी प्रकार संयोजन D में साधनों के प्रयोग में 50 प्रतिशत की वृद्धि हो रही है। यहाँ भी उत्पादन 50 प्रतिशत से अधिक वृद्धि दिखा रहा है–[18>(1.5)11]।

इसी प्रकार तुलना-गणना करके आप देख सकते हैं कि D से F तक पैमाने के प्रतिफल स्थिर रहते हैं। संयोजन F के बाद ह्रासमान प्रतिफल प्रारंभ हो जाते हैं।

3.2 लागतें (उत्पादन की लागतें)

अब हम उत्पादन की लागतों से जुड़ी कुछ संकल्पनाओं पर विचार करने की स्थिति तक पहुँच गए हैं। हमारे

[4] *यह कथन तभी तक मान्य होगा जबकि MPP धनात्मक हो अर्थात् फर्म तीसरे सोपान में नहीं हो।*

चित्र 3.1 ने ये तो स्पष्ट संकेत दे ही दिए थे कि लागतों के विचार उत्पादन फलन के साथ ही जुड़े हैं। इस खंड में हमारी चर्चा से इन संबंधों का और अधिक स्पष्ट निरूपण करने में सहायता मिलेगी। (यह चर्चा हम दो प्रकार के काल सोपानों के अंतर्गत करने जा रहे हैं : अल्पकाल और दीर्घकाल। हमारी मान्यता है कि उत्पादन लागतों में समय बीतने के साथ-साथ कुछ न कुछ बदलाव अवश्य आते हैं। कहीं कुछ संसाधनों की उपलब्धि और आपूर्ति में बदलाव आ जाता है तो कई बार तकनीकी प्रगति के कारण हमारे उत्पादन फलन की रचना ही बदल जाती है। इसी आधार पर हम काल सोपानों का निर्धारण करते हैं। आइए पहले **अल्पकाल** में लागतों की संकल्पनाओं पर विचार करें)।

3.2.1 अल्पकाल

स्थिर और परिवर्ती लागतें

हम किसी भी समय फर्म की सभी उत्पादन लागतों को दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं–**स्थिर लागतें** तथा **परिवर्ती लागतें**। जो लागतें उत्पादन में परिवर्तन (उतार-चढ़ाव) के कारण घटती-बढ़ती नहीं उन्हें स्थिर लागतें कहा जाता है (कई बार इन्हीं को ऊपरी लागत (overhead costs) भी कह देते हैं)। एक उदाहरण : हम मान लेते हैं कि आप एक वस्त्र-परिधान बनाने का व्यवसाय कर रहे हैं। अपनी फैक्ट्री के भवन का आप पूर्व निर्धारित किराया देते हैं, मशीनों के बीमे आदि की किश्तें भी नियत हैं। इन लागतों का इस बात से कोई संबंध नहीं होता कि आप प्रति मास कितने परिधानों का उत्पादन करते हैं। यदि फैक्ट्री किसी कारण बन्द रहती है तो भी किराया और बीमे की किश्त तो भरनी ही पड़ती है। इस प्रकार की लागतें ही स्थिर लागत कही जाती हैं।

इन लागतों को **स्थिर** घोषित करने में कहीं न कहीं समय अवधि का विचार छुपा है। यद्यपि किसी समय बिंदु पर अथवा छोटी-सी अवधि में तो ये लागतें स्थिर हैं किंतु अगर अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ समय सोपान में विचार करें तो आप अपनी फैक्ट्री के कामकाज के लिए और अधिक (कम भी) खुले स्थान को किराए पर लेने का विचार कर सकते हैं। आप मशीनों की संख्या को भी बढ़ाने (या घटाने) का निर्णय कर सकते हैं। ये सभी निर्णय भविष्य में व्यवसाय की संभावनाओं के पूर्वाकलन पर निर्भर करेंगे। अत: वर्तमान या अल्पकाल में किराया बीमा आदि की जो लागतें स्थिर प्रतीत होती हैं, दीर्घकाल में उनमें भी परिवर्तन आ सकते हैं। इसका अर्थ होगा कि स्थिर लागतों से हमारा वास्ता केवल अल्पकाल में ही पड़ता है, दीर्घकाल में नहीं। अन्य शब्दों में *स्थिर लागतें केवल अल्पकाल में स्थिर होती हैं। दीर्घकाल में सभी लागतें परिवर्ती हो जाती हैं।*

एक बात पर ध्यान दें–ये अल्प और दीर्घकाल कैलेन्डर के अनुसार निर्धारित समय की अवधियाँ नहीं है। इन्हें दिन, महीने या वर्षों के साथ समीकृत नहीं किया जा सकता। ये तो किसी व्यवसाय के व्यापारियों द्वारा अपने उत्पादन के आयोजन संबंधी परिप्रेक्ष्यों की अवधि पर निर्भर करते हैं। अत: इनकी समय अवधि अलग-अलग उद्योगों में अलग-अलग हो सकती है।

इस अंतर को ध्यान में रखते हुए हम वापस अल्पकाल की स्थिति के विश्लेषण की ओर लौट चलते हैं। उत्पादन करने के लिए स्थिर लागतों के अतिरिक्त कुछ और लागतें भी उठानी होती हैं। इन्हें हम परिवर्ती लागतें कहते हैं । इनका स्तर उत्पादन के स्तर से जुड़ा रहता है। इनमें मुख्यत: श्रमिकों का पारिश्रमिक (मजदूरी) और कच्चे माल के दाम

सम्मिलित रहते हैं। यदि आप अधिक वस्त्रों का निर्माण करना चाहते हैं तो आपको अधिक कपड़ा व अन्य सामग्रियाँ खरीदनी होंगी, अधिक कारीगर आदि भी रखने पड़ेंगे। इन सबके लिए भुगतानों में उत्पादन के स्तर के साथ-साथ वृद्धि (कमी) होती रहेगी। *अतः परिवर्ती लागतें उत्पादन के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती हैं।*

सामान्यतः हम इन्हें स्थिर और परिवर्ती लागतें नहीं कहते। इनके लिए अर्थशास्त्र में औपचारिक रूप से **स्थिर लागत (TPC)** और **कुल परिवर्ती लागत (TVC)** नाम नियत हैं। इन्हीं के आधार पर हम कुल लागत **(TC)** की परिभाषा करते हैं–कुल लागत = कुल स्थिर लागत + कुल परिवर्ती लागत। तालिका 3.4 में हम एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। ध्यान दें कि दूसरे स्तंभ में दिखाई गई स्थिर लागतें उत्पादन के स्तर के साथ-साथ परिवर्तित नहीं हो रहीं। किंतु स्तंभ 3 में दिखाई गईं TVC में बदलाव आता रहता है। प्रथम स्तंभ में उत्पादन का स्तर और दूसरे व तीसरे में क्रमशः कुल स्थिर लागतें और कुल परिवर्ती लागतों की तालिकाएँ बनाई गई हैं।

इन्हीं दोनों तालिकाओं के रेखाचित्र क्रमशः कुल स्थिर लागत वक्र और कुल परिवर्ती लागत वक्र कहलाते हैं। चित्र 3.6 में इन दोनों वक्रों के साथ-साथ कुल लागत (TC) तालिका का रेखाचित्र भी दिखाया गया है। TFC वक्र क्षैतिज अक्ष के समांतर रहता है, क्योंकि इसके स्तर में उत्पादन के साथ-साथ कोई परिवर्तन नहीं होता। किंतु और TVC और इसके साथ-साथ TC भी उत्पादन के स्तर के अनुसार बदलते रहते हैं। इन्हें दाहिनी ओर, ऊपर की ओर, उठते हुए बनाया गया है। परिभाषा के अनुसार TC तो TVC तथा TFC का ऊर्ध्व योगफल ही है। ध्यान दें कि उत्पादन स्तर शून्य होने पर तो कुल लागत (TC) = कुल स्थिर लागत (TFC), क्योंकि इस स्थिति में उत्पादन की कुल परिवर्ती लागत भी शून्य रहती है (परिवर्ती साधनों का प्रयोग ही नहीं होता, इसी कारण उनकी लागत भी नहीं चुकानी पड़ती)।

तालिका 3.4

कुल स्थिर लागत और कुल परिवर्ती लागत

उत्पादन	कुल स्थिर लागत (रुपए)	कुल परिवर्ती लागत (रुपए)	कुल लागत (रुपए)
1	10	0	10
2	10	8	18
3	10	13	23
4	10	16	26
5	10	20	30
6	10	26	36
7	10	35	45
8	10	47	57
9	10	63	73
10	10	83	93
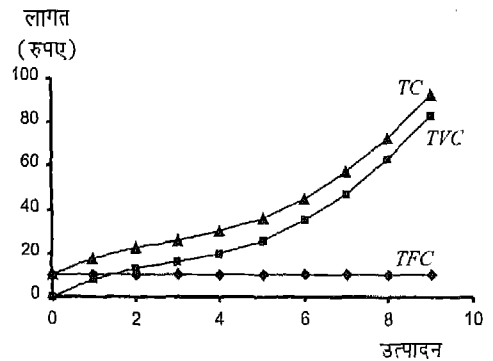
चित्र 3.6 : TFC, TVC तथा TC तालिका 3.4 के आधार पर

औसत लागतें

यदि कुल स्थिर लागत और कुल परिवर्ती लागत को उत्पादन से भाग कर दिया जाए तो हमें औसत स्थिर लागत (AFC) तथा औसत परिवर्ती लागत (AVC) के मान मिल जाते हैं। दूसरे शब्दों में AFC = TFC/उत्पादन तथा AVC = TVC/उत्पादन। इसी प्रकार से कुल लागत को उत्पादन से विभाजित कर औसत कुल लागत ज्ञात करते हैं, अर्थात ATC = TC/उत्पादन। हम जानते ही हैं कि परिभाषा के आधार पर ATC = AFC + AVC होगा। जहाँ किसी भ्रम की संभावना नहीं हो औसत कुल लागत को औसत लागत भी कह देते हैं। हम तालिका 3.4 की कुल लागतों के अनुरूप AFC, AVC तथा ATC के मान तालिका 3.5 में दर्शा रहे हैं। इन्हीं को रेखांकित कर चित्र 3.7 बनाया गया है।

तालिका 3.5

AFC, AVC तथा ATC तालिकाएँ
(तालिका 3.4 के आधार पर)

उत्पादन	AFC (रुपए)	AVC (रुपए)	ATC (रुपए)
0	8	–	–
1	10	8	18
2	5	6.50	11.50
3	3.33	5.33	8.66
4	2.50	5.00	7.50
5	2.00	5.20	7.20
6	1.66	5.84	7.50
7	1.43	6.71	8.14
8	1.25	7.875	9.125
9	1.11	9.22	10.33
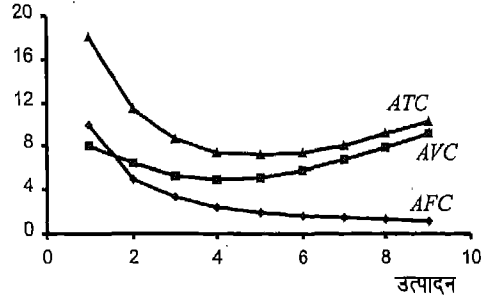
चित्र 3.7 : AFC, AVC तथा ATC, तालिका 3.5 के आधार पर

चित्र 3.7 पर ध्यान दें। AFC वक्र तो उत्पादन में वद्धि के साथ-साथ गिरता चला जाता है क्योंकि AFC अनुपात में अंश (TFC) का मान तो स्थिर रहता है और हर (उत्पादन) में निरंतर वृद्धि होती है। AFC तथा ATC वक्र प्रारंभ में दाहिनी ओर ढलवाँ रहते हैं पर शीघ्र ही ऊपर उठना प्रारंभ कर देते हैं। इनका आकार अंग्रेजी के U अक्षर जैसा हो जाता है। इस आकार के कारणों पर हम कुछ बाद में विचार करेंगे।

सीमांत लागतें

लागतों की एक और महत्त्वपूर्ण अवधारणा है—**सीमांत लागत (MC)**। सीमांत उपयोगिता या फिर सीमांत उत्पादन की भांति इसकी भी सरलतम परिभाषा यही होगी कि *एक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन करने पर कुल लागत में आई वृद्धि को सीमांत लागत कहते हैं।* इस प्रकार यह अतिरिक्त इकाई के उत्पादन की लागत होगी। तालिका 3.4 में उत्पादन स्तर 7 पर विचार करें। इस स्तर पर MC (अर्थात 7 इकाई उत्पादन की) सीमांत लागत 12 रुपए है। इसका कारण यही है कि सातवीं इकाई के उत्पादन में कुल लागत में हुई वृद्धि 57 – 45 = 12 रुपए बनती है। तालिका 3.4 से संबद्ध सीमांत लागतों की तालिका हमने तालिका 3.6 में बनाई है।

तालिका 3.6

सीमांत लागतें, तालिका 3.4 के आधार पर

उत्पादन	सीमांत लागत (रुपए)
0	–
1	8
2	5
3	3
4	4
5	6
6	9
7	12
8	16
9	20
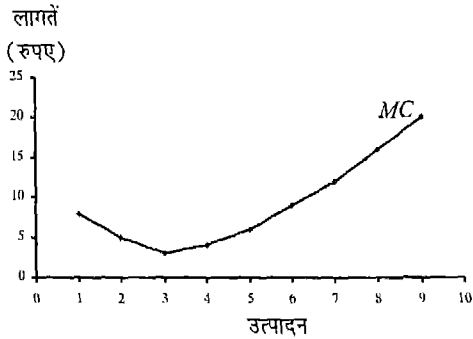
चित्र 3.8 : तालिका 3.6 पर आधारित सीमांत लागत (MC) वक्र

ध्यान दें कि कुल लागतों और कुल परिवर्ती लागतों का अंतर सदैव स्थिर रहता है। यह अंतर कुल स्थिर लागत के समान है। MC को हम एक और इकाई उत्पादित करने पर परिवर्ती लागत में हुई वृद्धि भी कह सकते हैं। जिस प्रकार कुल उपयोगिता सीमांत उपयोगिताओं का योगफल थी, उसी भांति TVC भी सभी MC का योगफल है। उदाहरण के लिए 2 इकाई उत्पादन की TVC 13 रुपए है और यह पहली इकाई की सीमांत लागत = 8 रुपए तथा दूसरी की सीमांत लागत = 5 रुपए का जोड़ ही है।

चित्र 3.8 में तालिका 3.6 में दर्ज किए गए सीमांत लागत वक्र का चित्रांकन किया गया है। इसी रेखाचित्र को **सीमांत लागत वक्र** कहा जाता है।

यदि उत्पादन की इकाइयों को पूरी तरह से विभाजनीय मान लिया जाए तो एक सतत् (पर काल्पनिक) सीमांत लागत वक्र बनाया जा सकता है। इसका आकार चित्र 3.9 में दर्शाए गए वक्र जैसा होगा। आपको याद होगा कि TVC वस्तुत: विभिन्न सीमांत लागतों का योगफल ही है। इस विशेषता के आधार पर हम सतत् सीमांत लागत वक्र के बारे में एक विशेष बात कह सकते हैं : TVC सीमांत लागत वक्र तथा क्षैतिज अक्ष के बीच के क्षेत्रफल के समान होती हैं। दूसरे शब्दों में TVC सीमांत लागत वक्र के नीचे का क्षेत्रफल होती है। यदि उत्पादन का स्तर q_o हो तो TVC का मान OAB q_o के क्षेत्रफल के समान होगा। इस व्युत्पत्ति अध्याय 4 में उपयोगी सिद्ध होगी।
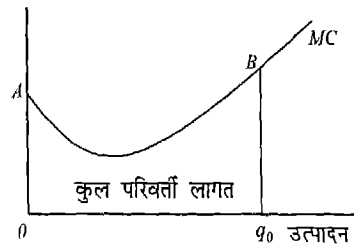
चित्र 3.9 : एक सतत् सीमांत लागत वक्र

चित्र 3.8 तथा 3.9 दोनों में ही उत्पादन वृद्धि होने पर शुरू में सीमांत उत्पादिता में कुछ गिरावट आती है पर बाद में इसमें वृद्धि शुरू हो जाती है। इसका आकार भी U अक्षर जैसा बन जाता है। MC वक्र के U आकार का आधार ह्रासमान प्रतिफलों का

नियम ही है। आपको याद होगा कि अन्य आदान स्थिर रहने पर एक साधन के प्रयोग में वृद्धि से शुरू में सीमांत भौतिक उत्पादन में वृद्धि होती है, पर एक स्तर से आगे बढ़ने पर उस साधन का सीमांत भौतिक उत्पादन कम होने लगता है। मान लो कि यह आदान एकमात्र परिवर्ती साधन है। अत: इसको किया गया सारा भुगतान ही कुल परिवर्ती लागत के समान होगा। इसी तरह अन्य सभी अपरिवर्तित आदानों के लिए किए गए भुगतानों को ही हम कुल स्थिर लागत के समान मान सकते हैं।

आइए, अब ह्रासमान प्रतिफल के नियम के दूसरे पहलू या पक्ष पर विचार करें। इसका समरूप अर्थ होगा कि जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ाया जाता है, शुरू में परिवर्ती साधनों की प्रयुक्त मात्रा में कुछ कमी आती है पर आगे चलकर इसमें वृद्धि होने लगती है। इसका तात्पर्य होगा कि शुरू में परिवर्ती लागत (जो कि सीमांत लागत के समतुल्य ही है) में वृद्धि की दर में गिरावट आएगी, पर किसी बिंदु से आगे चलकर उत्पादन बढ़ने पर इस वृद्धि की दर में भी बढ़ोतरी होने लगेगी। इसी कारण से MC वक्र का आकार U अक्षर जैसा बन जाता है।[5]

जब हम एक बार यह समझ लेते हैं कि MC वक्र का आकार U जैसा होता है तो फिर AVC तथा ATC के U आकार को समझना भी आसान हो जाता है।

वास्तव में AVC, ATC तथा MC वक्रों के बीच एक और संबंध भी होता है। चित्र 3.10 पर ध्यान दें, इसमें सतत् AVC, ATC तथा MC दर्शाए गए हैं। ध्यान देने की बात यह है कि MC वक्र AVC तथा ATC वक्रों को उनके अपने निम्नतम बिंदुओं पर प्रतिच्छेदित कर रहा है। प्रतिच्छेदन की इस विशेषता का आधारभूत कारण आर्थिक नहीं बल्कि गणितीय होता है। इसे हम निम्न उदाहरण द्वारा समझा सकते हैं।[6]
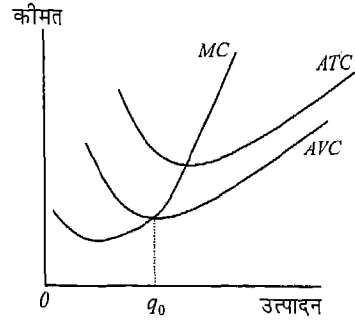
चित्र 3.10 : AVC, ATC तथा MC वक्र

क्रिकेट के एक खेल पर विचार करें। जैसे-जैसे विकेट गिरते हैं, आप सभी आउट हुए खिलाड़ियों की औसत रन संख्या का आकलन करना चाहते हैं। यह गणना हम तीसरे विकेट के पतन के बाद आरंभ कर रहे हैं। मान लो कि पहले तीन खिलाड़ियों ने क्रमश: 40, 105 तथा 2 रन बनाए हैं। अत: औसत होगी $(40 + 105 + 2) \div 3 = 49$ । खेल चलता रहता है। चौथे विकेट के पतन पर आप दुबारा औसत का आँकलन करते हैं और पाते हैं कि यह बढ़कर 49 से अधिक हो गया है। तो फिर चौथे क्रम पर गिरने वाले खिलाड़ी ने कितने रन बनाए होंगे? 49 से अधिक या कम? उत्तर होगा कि 49 से अधिक। क्यों? इसका कारण यही है कि अन्यथा औसत 49 ऊपर नहीं हो पाता। इसी तरह से, अगर औसत 49 से कम रह जाता है तो चौथे खिलाड़ी द्वारा बनाए गए रनों की संख्या निश्चित रूप से 49 से कम होती। इस गणना का निष्कर्ष कुछ इस प्रकार है :

---

[5] *वास्तव में MC वक्र को MPP वक्र का प्रतिबिंब भी कहा जा सकता है।*

[6] *देखें रिचर्ड मैन्निग एण्ड कैनेथ हेनरी, "द लोजिक ऑफ मार्केट्स", द डनमोर प्रेस लिमिटेड, न्यूजीलैंड, 1983, अध्याय 7।*

चौथे बल्लेबाज द्वारा बनाए गए रनों को **सीमांत** रनों के रूप में देखने का प्रयास करें। फिर तो ये अगली इकाई या खिलाड़ी द्वारा बनाए गए **अतिरिक्त** रन माने जा सकते हैं (जबकि तीन खिलाड़ी पहले ही **आउट** हो चुके हैं)। अत: जब हम कहते हैं कि औसत में वृद्धि (कमी) हो रही है तो सीमांत निश्चित रूप से औसत से अधिक (कम) होना चाहिए। अब दुबारा चित्र 3.10 पर ध्यान दें। AVC वक्र शून्य उत्पादन स्तर से चलकर q_o लगातार गिरता जा रहा है। तो (क) इस अंतराल में सभी उत्पादन स्तरों पर MC < AVC होगा। इसी प्रकार q_o प्रतिशत से अधिक उत्पादन स्तरों पर (ख) AVC में वृद्धि हो रही है अत: MC > AVC होगा। जब हम (क) तथा (ख) दोनों कथनों को एक साथ मिलाकर उनका पठन करते हैं तो पाएँगे कि MC वक्र AVC वक्र को इसके (AVC के) निम्नतम बिंदु पर काट रहा है (यह बिंदु q_o उत्पादन को दिखा रहा है)।

हम जानते ही हैं कि परिभाषा के तर्क के अनुसार MC वास्तव में TVC तथा TC दोनों में हुई वृद्धियों का मान ही है। अत: उपर्युक्त तर्क MC तथा ATC के संबंध पर भी लागू होगा। इसीलिए हम कह सकते हैं कि MC वक्र ATC को भी उसके (ATC के) न्यूनतम बिंदु पर प्रतिच्छेदित कर उससे ऊपर निकल जाता है।

3.2.2 दीर्घकाल

हमने शुरू में ही कहा था कि दीर्घकाल में सभी आदान परिवर्तित हो सकते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि जो लागतें अल्प अवधि में **अपरिवर्तनीय** प्रतीत होती हैं वे भी उत्पादक के आयोजन परिप्रेक्ष्य के विस्तृत होने पर बदल जाती हैं। अत: दीर्घकाल में कोई TFC और AFC वक्र नहीं बचता। कुल लागतों और कुल परिवर्ती लागतों के भेद समाप्त हो जाते हैं, फिर तो हम केवल **कुल लागत** वाक्यांश का प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार औसत सकल लागत तथा औसत लागत का भेद भी मिट जाता है। हम औसत लागत के लिए **दीर्घकालिक औसत लागत** नाम का प्रयोग करेंगे। इसे LAC द्वारा दर्शाया जाता है, यहाँ L अक्षर दीर्घकाल (Long-run) का सूचक है। सीमांत लागत की सकल्पना यहाँ भी अपने मूल स्वरूप में ही विद्यमान रहती है, हाँ इसके अल्पकाल से अलग स्वरूप को इंगित करने के लिए हम इसके आगे भी **दीर्घकालिक** शब्द का प्रयोग कर लेते हैं। अत: संक्षेप में **दीर्घकालिक सीमांत लागत** को LMC शब्दों द्वारा अभिव्यक्त कर दिया जाता है।

इस खंड में अब हमारा सारा विचार-क्रम LAC तथा LMC वक्रों के आकारों तथा इन आकारों के कारणों और इन वक्रों के बीच अंतर्संबंधों की व्याख्या पर केंद्रित रहेगा।

अल्पकालिक औसत और सीमांत लागत वक्रों की भांति LAC तथा LMC भी U आकार के वक्र होते हैं। LMC यहाँ भी LAC को इसके न्यूनतम बिंदु पर नीचे से काटकर इसके ऊपर उठ जाता है। किंतु यहाँ U-आकार होने का कारण बदल जाता है। अब **ह्रासमान साधन प्रतिफल** का नियम लागत वक्रों के आकार का निर्धारण नहीं करता। दीर्घकाल में तो सभी संसाधनों के प्रयोग में परिवर्तन संभव होते हैं। अत: यहाँ **पैमाने के प्रतिफलों** का स्वरूप ही लागत वक्रों के U-आकार का निर्धारणकर्ता बन जाता है।[7]

पैमाने के वृद्धिमान प्रतिफल यहाँ विशेष रूप से विचारणीय हैं। इनका अभिप्राय है कि उत्पादन में

---

[7] *अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक औसत या सीमांत लागत वक्रों को पूरी तरह असंबद्ध मान लेना उचित नहीं होगा। वैसे व्यष्टि अर्थशास्त्र के उच्च स्तरीय पाठ्यक्रमों में ही आपको यह बताया जाएगा कि LAC अल्पकालिक वक्र की तुलना में कम ढाल वाला होता है–इसका U आकार अधिक फैलावपूर्ण होता है।*

किसी दर विशेष (मान लो 10%) पर वृद्धि के लिए संसाधन प्रयोग में इससे कम अनुपातिक वृद्धि (मान लें कि 7%) की ही आवश्यकता होगी। अत: उत्पादन बढ़ने पर LAC में गिरावट आना अनिवार्य हो जाएगा। इसी तरह से ह्रासमान पैमाना प्रतिफल होने पर उत्पादन के साथ-साथ औसत लागत भी ऊपर उठने लगती है। जहाँ पैमाने के प्रतिफल स्थिर हों वहाँ निश्चित रूप से औसत लागतें भी स्थिरतापूर्ण ही रहेंगी। इनमें उत्पादन के साथ उतार-चढाव नहीं होगा। इस अनुच्छेद के विश्लेषण को हम संक्षेप में इस प्रकार लिख सकते हैं–

पैमाने के वृद्धिमान प्रतिफल ⇒ उत्पादन वृद्धि के कारण LAC कम होती है।

पैमाने के स्थिर प्रतिफल ⇒ उत्पादन के साथ-साथ LAC में कोई परिवर्तन नहीं आता।

पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल ⇒ उत्पादन वृद्धि के कारण LAC में वृद्धि होने लगती है।

अब चित्र 3.11 पर विचार करें। इसमें U-आकार का LAC वक्र दिखाया गया है। इसका अर्थ है कि जब शून्य स्तर से उत्पादन बढ़ाया जाता है तो q_o स्तर तक पैमाने के वृद्धिमान प्रतिफल सुलभ रहते हैं। अत: LAC में गिरावट आती है। q_o स्तर पर (कुछ समय तक) पैमाने के स्थिर प्रतिफलों की उपलब्धता बनी रहती है। अंतत: पैमाने के ह्रासमान प्रतिफलों की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। q_o से आगे बढ़ने पर LAC भी ऊपर उठने लगता है। चित्र 3.11 में हमने ये वृद्धिमान स्थिर और ह्रासमान प्रतिफलों की अवस्थाएँ IRS, CRS और DRS द्वारा दिखाई हैं।
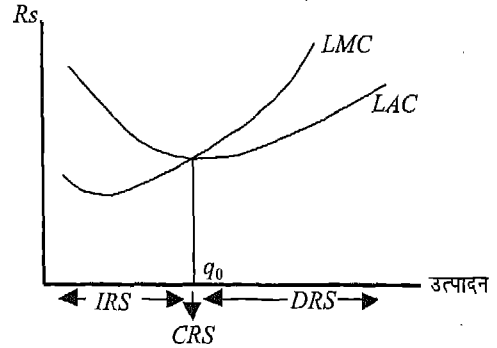
चित्र 3.11 : दीर्घ कालिक औसत और सीमांत लागत वक्र

एक प्रश्न उठता है कि पहले IRS और उसके बाद क्रमश: CRS तथा DRS क्यों पैदा होते हैं? बहुत ही छोटे पैमाने पर काम कर रही फर्म जब उत्पादन बढ़ाना प्रारंभ करती है तो उसे पहली बार (क) श्रम विभाजन के लाभ प्राप्त होने लगते हैं। उदाहरण के तौर पर मान लो कि शुरू में केवल एक व्यक्ति प्रबंधक के सारे काम कर रहा था। वैसे उसकी विशेषज्ञता तो विपणन (Marketing) थी किंतु उसी के जिम्मे उत्पादन के सारे दायित्व भी थे। जब फर्म का व्यवसाय विस्तृत होता है तो यह उत्पादन की व्यवस्था के एक विशेषज्ञ को काम पर रखने योग्य हो जाती है। अब ये दोनों प्रबंधक अपने-अपने कौशल के अनुरूप कार्यों पर ध्यान केंद्रित रखकर अधिक दक्षतापूर्वक फर्म के व्यवसाय की समृद्धि में अपना योगदान दे पाएँगे। श्रमिकों में उनके कौशल या विशेषज्ञता के अनुसार कार्य विभाजन को ही श्रम विभाजन कहा जाता है।[8]

[8] *यही बात माप प्रकार के कर्मियों, मशीनों और भूमि पर भी लागू होती है। उदाहरण के लिए छोटे पैमाने पर काम कर रही फर्म केवल एक कमरे से ही गोदाम और दफ्तर का काम चला रही है। माल का गोदाम से आना-जाना चलता रहता है–इसका अन्य कर्मचारियों की उत्पादिता पर दुष्प्रभाव पड़ता है। यदि फर्म एक और कमरा लेकर गोदाम को उसी से सीमित कर दे तो निश्चित ही अन्य कर्मचारियों के काम में व्यवधान नहीं आएगा।*

(ख) अक्सर बड़े पैमाने पर कार्य कर रही फर्म को अधिक कच्चा माल एक साथ खरीदने पर कीमत में कुछ कटौती मिल जाती है। उदाहरण के लिए कोई कपड़ा निर्माता फर्म यदि 100 टन सूत के स्थान पर एक साथ 200 टन की खरीदारी करना चाहे तो वह निश्चित रूप से सूत निर्माता से कीमत में कुछ कटौती का आग्रह कर सकेगी। इस कटौती से उसकी कुल तथा साथ ही साथ औसत लागतों में कुछ कमी आ जाती है।

किंतु जैसे-जैसे उत्पादन का स्तर बढ़ता है, व्यवसाय का फैलाव होता है। इस फैलाव के कारण प्रबंधकीय कठिनाइयाँ भी अधिक हो जाती हैं। इसका एक स्वाभाविक लक्षण है कार्यशालाओं, गोदामों तथा कार्यालयों में भीड़-भाड़ की वृद्धि। इससे शीघ्र ही पैमाने के प्रतिफलों में गिरावट का क्रम आरंभ हो जाता है।

इन IRS तथा DRS की स्थितियों के बीच फर्म को कुछ समय तक (कुछ अंतराल में) पैमाने के प्रतिफलों में स्थिरता दिखाई देती है। चित्र 3.11 में q_0 बिंदु ऐसे ही उत्पादन स्तर को दिखा रहा है। भले ही हमने इस चित्र में CRS की अभिव्यक्ति को उत्पादन के एक बिंदु q_0 में दिखाया है, पर वास्तव में यह विचार किसी न किसी उत्पादन अंतराल पर लागू रहता है। उस दशा में LAC का बीच का हिस्सा क्षैतिज अक्ष के समांतर हो जाता है।

अब इस विषय में बस दो एक टिप्पणियाँ ही और बची हैं–

प्रथम, हम जानते ही हैं कि उत्पादन बढ़ने पर शुरू में वृद्धिमान फिर स्थिर और अंततः ह्रासमान प्रतिफल आते हैं। अतः दीर्घकालिक लागत वक्र का न्यूनतम स्तर वहीं होगा जहाँ ये प्रतिफल स्थिरतापूर्ण होते हैं। हमारे उपर्युक्त चित्र में बिंदु q_0 न्यूनतम LAC के न्यूनतम स्तर को दर्शाता है। यह भी कहा जा सकता है कि किसी न किसी रूप में इस स्तर पर उत्पादन सबसे अधिक कुशलतापूर्वक (दक्षतापूर्वक) हो रहा है।

दूसरे, LAC के U-आकार के कारण ही LMC भी U-आकार धारण कर लेता है। ध्यान रहे कि यह कथन अल्पकाल के औसत और सीमांत लागतों के संबंध से एकदम अलग है वहाँ AC का U-आकार MC के U-आकार के कारण बनता था। यहाँ एकदम विपरीत होता है, MC का U-आकार AC के U-आकार के कारण बनता है।

इस अध्याय के जिन अवधारणाओं में संकल्पनाओं और विचारों का निरूपण किया गया है उनकी आगे के अध्यायों में बार-बार आवश्यकता होगी। अतः यदि आप इन विचारों को ठीक से समझ लेंगे तो आगे के विश्लेषण में आपको बहुत सरलता की अनुभूति रहेगी।

सार संक्षेप

- TPP का मान सभी MPPs के योगफल के समान है।
- सामान्यतः उत्पादन प्रक्रिया के तीन सोपान या अवस्थाएँ होती हैं। प्रारंभ में किसी साधन के प्रयोग में वृद्धि होने पर उसकी MPP में वृद्धि होती है, फिर इसमें कमी आने लगती है, किंतु इसका मान धनात्मक ही रहता है। अन्तिम स्थिति में यह ऋणात्मक हो जाता है।
- अधिकतम लाभ कमाने की प्रेरणा से कार्य कर रही फर्म किसी साधन का प्रयोग इतना नहीं बढ़ाएगी कि उस साधन का MPP ऋणात्मक हो जाए।

- ☞ सामान्यत: MPP तथा APP वक्र उल्टे U-आकार के होते हैं।
- ☞ MPP वक्र के उल्टे U-आकार की व्याख्या साधन के ह्रासमान प्रतिफलों के नियम द्वारा की जाती है। MPP के उल्टे U-आकार के परिणामस्वरूप APP का आकार भी वैसा ही हो जाता है।
- ☞ अल्पकाल में लागतों के दो वर्ग होते हैं–स्थिर लागत व परिवर्ती लागत।
- ☞ दीर्घकाल में केवल परिवर्ती लागतें होती हैं।
- ☞ AFC वक्र दाहिनी ओर ढलवाँ होता है।
- ☞ सामान्यत: MC, AVC तथा ATC वक्र U-आकार के होते हैं।
- ☞ MCs का योगफल ही TVC के समान होता है।
- ☞ MC वक्र के अंतर्गत आने वाला क्षेत्रफल TVC के समान होता है।
- ☞ ह्रासमान साधन प्रतिफलों का नियम ही MC वक्र को U-आकार प्रदान करता है। MC वक्र अपने आकार की यही विशेषता AVC तथा ATC वक्रों को भी प्रदान कर देता है।
- ☞ MC वक्र ऊपर उठते हुए AVC तथा ATC वक्रों को उनके निम्नतम बिंदुओं पर प्रतिच्छेदित करते हुए उन से ऊपर निकल जाता है।
- ☞ दीर्घकालिक सीमांत लागत (LMC) वक्र तथा दीर्घकालिक औसत लागत वक्र सामान्यत: U-आकार का होता हैं।
- ☞ LMC वक्र LAC को उसके निम्नतम बिंदु पर काटता है।
- ☞ LAC के U-आकार का कारण फर्म को प्रारंभ में पैमाने के वृद्धिमान फिर स्थिर तथा अंतत: ह्रासमान प्रतिफलों की प्राप्ति है।
- ☞ LAC वक्र अपने आकार का स्वरूप LMC वक्र को भी प्रदान कर उसे U-आकार बना देता है।
- ☞ दीर्घकाल में पैमाने के वृद्धिमान प्रतिफलों के दो प्रमुख कारण श्रम विभाजन और बड़ी मात्रा में कच्चे माल आदि की खरीदारी होते हैं (क्योंकि यह खरीदारी कम दामों पर संभव हो जाती है)।

▶▶▶ अभ्यास ◀◀◀

भाग-1

3.1 उत्पादन फलन क्या होता है?

3.2 उत्पादन में प्रयुक्त किन्हीं तीन आदानों/साधनों के नाम बताएँ।

3.3 कुल भौतिक उत्पाद का क्या अर्थ है?

3.4 औसत भौतिक उत्पाद का अर्थ क्या होता है?

3.5 सीमांत भौतिक उत्पाद से क्या अभिप्राय है?

3.6 सीमांत भौतिक उत्पाद तालिका से कुल भौतिक उत्पाद कैसे ज्ञात हो सकता है?

3.7 यदि कुल भौतिक उत्पाद में गिरावट आ रही हो तो आप किसी साधन की सीमांत भौतिक उत्पादिता के विषय में क्या कहेंगे?

3.8 MPP वक्र का सामान्य आकार कैसा होता है?

3.9 APP वक्र का सामान्य आकार कैसा होता है?

3.10 पैमाने के प्रतिफल क्या होते हैं?

3.11 पैमाने के वृद्धिमान प्रतिफल का अर्थ बताएँ।

3.12 पैमाने के स्थिर प्रतिफल से अभिप्राय बताएँ।

3.13 पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल का अर्थ बताएँ।

3.14 निम्न को स्थिर तथा परिवर्ती लागतों में वर्गीकृत करें–

(क) किसी शेड का किराया (ङ) पूँजी पर ब्याज

(ख) न्यूनतम टेलीफोन बिल (च) सामान के परिवहन पर खर्च

(ग) कच्चे माल की लागत (छ) न्यूनतम से ऊपर की टेलीफोन बिल की राशि

(घ) स्थाई कर्मचारियों के वेतन (ज) दैनिक मजदूरी

3.15 उत्पादन में परिवर्तन होने पर कुल स्थिर लागत किस प्रकार परिवर्तित होती है?

3.16 सीमांत लागत सारणी से कुल परिवर्ती लागत कैसे निकाली जाती है?

3.17 सीमांत लागत वक्र से आप कुल परिवर्ती लागत कैसे ज्ञात करेंगे?

3.18 AFC वक्र का सामान्य आकार कैसा होता है?

3.19 MC वक्र का सामान्य आकार कैसा होता है?

3.20 AC वक्र का सामान्य आकार बताइए।

3.21 यदि MC > ATC तो ATC पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

3.22 श्रम विभाजन का क्या अर्थ है?

3.23 अधिक खरीदारी पर कटौती क्या होती है?

3.24 दीर्घकाल में पैमाने के वृद्धिमान प्रतिफलों के लिए उत्तरदायी दो कारक बताइए।

भाग-2

3.25 परिवर्ती अनुपातों के नियम का अर्थ क्या है?

3.26 निम्न तालिका में TPP सारणी दी गई है। APP तथा MPP का आकलन करें ।

साधन प्रयोग का स्तर	TPP
0	0
1	5
2	12
3	20
4	28
5	35
6	40
7	42

3.27 निम्न तालिका में एक साधन की MPP की जानकारी दी जा रही है। हम जानते हैं कि यदि साधन प्रयोग शून्य हो तो TPP भी शून्य रहता है। TPP तथा APP सारणियों की रचना करें।

साधन रोजगार स्तर	MPP
1	20
2	22
3	18
4	16
5	14
6	6

3.28 हमारी निम्न तालिका में एक आदान की APP दी गई है। यह भी बताया गया है कि साधन प्रयोग शून्य होने पर TPP भी शून्य होता है। TPP तथा MPP सारणियाँ बनाएँ।

साधन प्रयोग का स्तर	APP
1	50
2	48
3	45
4	42
5	39
6	35

3.29 ह्रासमान सीमांत प्रतिफलों का नियम समझाइए। किसी साधन का प्रयोग बढ़ाने पर उसका सीमांत उत्पादन कम क्यों होता है?

3.30 सीमांत भौतिक उत्पादन में परिवर्तन आने पर कुल भौतिक उत्पादन में कैसे परिवर्तन आते हैं?

3.31 ह्रासमान प्रतिफलों के नियम का अर्थ समझाइए।

3.32 स्थिर और परिवर्ती लागतों में भेद करें।

3.33 एक उपयुक्त रेखाचित्र की सहायता से TC, TFC और TVC के संबंध समझाइए।

3.34 क्या ATC तथा AVC वक्र प्रतिच्छेदन करते हैं? अपने उत्तर के कारण बताइए।

3.35 अल्पकालिक MC वक्र U-आकार का क्यों होता है?

3.36 एक फर्म 20 इकाई उत्पादन कर रही है। इस उत्पादन स्तर पर उसके ATC तथा AVC क्रमशः 40 रुपए तथा 37 रुपए हैं। फर्म की कुल स्थिर लागतें ज्ञात करें।

भाग-3

3.37 निम्न तालिका में एक फर्म की सकल लागत सारणी दी गई है–

उत्पादन (इकाइयों में)	कुल लागत (रुपयों में)
0	40
1	120
2	170
3	180
4	210
5	260
6	340
7	440
8	550

(क) इस फर्म की कुल स्थिर लागत क्या है?

(ख) फर्म की AFC, AVC, ATC तथा MC सारणियाँ बनाइए।

3.38 यदि एक इकाई उत्पादन स्तर पर AFC 60 रुपए हो तो निम्न तालिका की सभी प्रविष्टियाँ आकलित करें

उत्पादन	TC	TVC	TFC	AVC	AFC	ATC	MC
1	90						
2	105						
3	115						
4	120						
5	135						
6	160						
7	200						
8	260						

3.39 एक फर्म की स्थिर लागत 2000 रुपए है। निम्न तालिका के आधार पर उसकी TVC, AVC, TC तथा ATC का आकलन करें।

उत्पादन (इकाइयाँ)	सीमांत लागत (रुपए)
1	2000
2	1500
3	1200
4	1500
5	2000
6	2700
7	3500

3.40 किसी फर्म की कुल स्थिर लागत 100 रुपए और उसकी सीमांत लागत सारणी निम्न तालिका में दी गई है। बताएँ कि–

(क) क्या MC वक्र U-आकार का है?

(ख) AVC सारणी बनाएँ। क्या AVC वक्र U-आकार का होगा? यदि हाँ तो क्यों, यदि नहीं तो क्यों नहीं?

उत्पादन (इकाइयां)	सीमांत लागत (रुपए)
1	10
2	20
3	30
4	40
5	50
6	60
7	70

3.41 किसी उपयुक्त उदाहरण की सहायता से ATC, AVC और MC के बीच संबंध समझाइए।

3.42 निम्न तालिकाएँ 'क' तथा 'ख' में दो उत्पादन तकनीक या उत्पादन फलन दिए गए हैं। दो ही उत्पादन के साधन हैं–अकुशल श्रमिक तथा कुशल श्रमिक। दर्शाइए कि तालिका 'क' का उत्पादन फलन पैमाने के वृद्धिमान प्रतिफलों का अनुसरण करती है और तालिका 'ख' का उत्पादन फलन पैमाने के ह्रासमान प्रतिफलों के नियम का पालन करता है

तालिका–क

अकुशल श्रमिक (घंटों में)	कुशल श्रमिक (घंटों में)	उत्पादन (इकाइयाँ)
8	4	2
10	5	3
12	6	4
14	7	5

तालिका–ख

अकुशल श्रमिक (घंटों में)	कुशल श्रमिक (घंटों में)	उत्पादन (इकाइयाँ)
8	4	6
10	5	7
12	6	8
14	7	9

3.43 "पैमाने के वृद्धिमान एवं ह्रासमान प्रतिफल ही क्रमशः दीर्घकालिक औसत लागत वक्र के नीचे की ओर गिरते और ऊपर उठते हुए हिस्सों का कारण होते हैं।" इस कथन के पक्ष या विपक्ष में तर्क दीजिए।

आगम, उत्पादक का संतुलन और आपूर्ति वक्र

अध्याय **4**

4.1 कुल आगम

4.2 उत्पादक का संतुलन : आपूर्ति वक्र का आधार

4.3 आपूर्ति की मात्रा में परिवर्तन बनाम आपूर्ति में परिवर्तन

4.4 आपूर्ति वक्र के निर्धारक

4.5 बाजार आपूर्ति वक्र

4.6 काल परिप्रेक्ष्य

4.7 आपूर्ति की कीमत लोच

आप जानते हैं कि बाजार की कीमत प्रणाली के दो आधारभूत संघटक होते हैं—माँग और आपूर्ति की शक्तियाँ। उत्पादक ही बाजार में वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति करते हैं। पिछले अध्याय में हमने उत्पादन और उत्पादन की लागतों विषयक अवधारणाओं को समझने का प्रयास किया है। ये विचार उत्पादक की निर्णय प्रक्रिया की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। फिर भी, अभी तक हमने उत्पादकों के चयन व्यवहार के बारे में कोई बात नहीं की है। दूसरे शब्दों में, अभी तक हमने इस प्रश्न को छुआ भी नहीं है कि अधिकतम लाभ कमाने के लिए किसी उत्पादक को कितना (या किस स्तर पर) उत्पादन करना चाहिए। इस अध्याय में हम उत्पादक की आगम संबंधी अवधारणाओं को विकसित करेंगे, फिर लागत और आगमों के समन्वित प्रयोग के माध्यम से हम उत्पादक के लाभ अधिकतम करने के प्रयासों का अध्ययन करेंगे। यही व्यवहार अंततः बाजार की **आपूर्ति वक्र** का निर्धारक होता है। ये वक्र विभिन्न कीमतों पर उत्पादित और बिक्री के लिए बाजार में लाई गई मात्राओं को दर्शाता है (आपको याद है न कि माँग वक्र विभिन्न कीमतों पर खरीदी जा रही मात्राएँ दिखा रहा था)।

पिछले अध्याय में ही हमने कहा था कि लाभ कुल आगम या और कुल लागत का अंतर होता है। हमने यह भी देखा था कि उत्पादन के साथ-साथ लागतों में किस प्रकार परिवर्तन आते हैं। इस अध्याय में हम पहले कुल आगम के परिवर्तन पर विचार करेंगे। परिभाषानुसार–

कुल आगम = कीमत × मात्रा = कीमत × उत्पादन

इसी के साथ लाभ को अधिकतम करने संबंधी व्यवहार

के विश्लेषण की पृष्ठभूमि की रचना हो जाती हैं। इसी को **उत्पादक का संतुलन** भी कहते हैं। इसे **संतुलन** कहे जाने का आधार यही है कि एक बार उत्पादक को उत्पादन का वह स्तर पता चल जाए जिस पर उसे अधिकतम लाभ होता है, तो फिर, वह उसी स्तर पर टिके रहना चाहेगा। उसे उस स्तर से कम या अधिक उत्पादन करने की कोई संप्रेरणा नहीं होगी।

4.1 कुल आगम

लागतों का निर्धारण तो तकनीकी कारकों के आधार पर हो जाता है, किंतु किसी फर्म को अपना उत्पादन बेचने से प्राप्त होने वाली राशि **बाजार की संरचना** पर निर्भर रहती है। इस संरचना में किसी उद्योग में काम कर रही इकाइयों अथवा फर्मों की संख्या, उनके बीच प्रतिस्पर्धा का स्वरूप और वस्तु की अपनी प्रकृति सम्मिलित है। इस अध्याय में हम बाजार संरचना के केवल एक प्रकार या प्रतिमान पर विचार करेंगे। **पूर्ण प्रतियोगिता** का यह प्रतिमान आर्थिक विश्लेषण में अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अन्य प्रकार के प्रतिमानों पर अध्याय 6 में विचार किया जाएगा।

4.1.1 पूर्ण प्रतियोगिता

ये तीन विशेषताएँ पूर्ण प्रतियोगिता अथवा पूर्ण प्रतियोगी बाजार को परिभाषित करती हैं–

(क) क्रेताओं और विक्रेताओं (उत्पादकों) की एक बहुत विशाल संख्या है।

(ख) सभी फर्में (उत्पादक) समरूप अथवा एक जैसी वस्तु (सेवा) की बिक्री करती हैं।

(ग) इस बाजार में आने या इससे बाहर जाने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है।

वास्तविक जीवन में ऐसे बाजारों की तलाश सहज नहीं हो पाती जो पूरी तरह से पूर्ण प्रतियोगिता की तीनों उपर्युक्त मान्यताओं पर खरे उतरते हों। किंतु यदि गेहूँ, सामान्य हजामत बनवाने की सेवा या फिर चमड़े के बने साधारण फुटबाल जैसी वस्तुओं के बाजार पर गौर करें तो ये पूर्णप्रतियोगी बाजार के प्रतिमान के बहुत ही **निकट** दिखाई देते हैं। इन वस्तुओं/सेवाओं के उत्पादकों की संख्या बहुत बड़ी है। ये चीज़ें सहज या प्राकृतिक रूप से एक जैसी होती हैं। इनके व्यवसाय में शामिल होना या उसे छोड़ देना भी अपेक्षाकृत बहुत आसान होता है।[1]

किसी बाजार में समरूप उत्पादन बेचने की मान्यता का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। सभी उत्पादकों को उस वस्तु के लिए एक समान कीमत स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ता है। इसका कारण सीधा सा है–यदि कोई उत्पादक अन्यों की अपेक्षा ज्यादा कीमत माँगेगा तो कोई भी उपभोक्ता या ग्राहक उससे खरीदारी नहीं करेगा। आखिर एकदम एक जैसी चीज़ के लिए कोई भी ज्यादा कीमत क्यों चुकाएगा? अत: किसी बाजार में कार्य कर रहे सभी उत्पादकों को एक ही कीमत स्वीकार करनी पड़ती है। वस्तु की समरूपता और उत्पादकों की बहुत विशाल संख्या यह

---

[1] *वैसे आप यह तर्क दे सकते हैं कि पंजाब में उत्पादित गेहूँ और आस्ट्रेलियाई गेहूँ में काफी अंतर होते हैं। फिर भी व्यावहारिक रूप में ये अंतर इतने महत्त्वपूर्ण नहीं रहते। सामान्य हजामत का स्वरूप भी एक नाई की दुकान से दूसरी तक पहुँचते-पहुँचते कुछ बदल जाता है, पर यह भी मुख्यत: ज्यादा बढ़े हुए बालों को सफाई से काटकर छोटा करना ही है। हमने जान-बूझकर इन बाजारों के उदाहरण चुने हैं। ये बाजार टेलीविजन जैसी वस्तुओं के बाजार से एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से अलग प्रकार के हैं–टेलीविजन बाजार में उपलब्ध मॉडलों में 'समरूपता' के गुण को जान-बूझकर घटाया जाता है। हर कोई अपने उत्पादक को "कुछ अलग कुछ बेहतर" बताता है। केवल श्वेत-श्याम और रंगीन का अंतर नहीं है। उनमें भी आकार 19" से 29" तथा गुणवत्ता, दिखाव और रचना आदि में अंतर पाया जाता है।*

सुनिश्चित कर देती है कि व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक फर्म का आकार बाजार में बिक रही सारी मात्रा की तुलना में बहुत ही छोटा रह जाता है। इसी कारण से कोई भी उत्पादक अपने व्यवहार से बाजार कीमत को प्रभावित नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों में, **प्रत्येक फर्म बाजार में कीमत स्वीकारक** होती है। यही पूर्ण प्रतियोगिता की विशेषता है।[2]

जलेबी जैसी मिठाई के बारे में सोचकर देखें। आप यदि किसी भी ऐसे नगर में हलवाई की दुकान चला रहे हों जहाँ अनेक हलवाई जलेबी बना कर 70 रुपए प्रति किलो बेच रहे हों तो आपको भी इसी भाव पर अपनी जलेबियाँ बेचनी पड़ेंगी। यदि आप 70 रुपए किलो से अधिक कीमत रखने की कोशिश करेंगे तो क्या परिणाम होगा? आप अपने बहुत से, संभवत: सारे ही ग्राहक खो बैठेंगे। आपके पास इस बाजार भाव से कम दाम पर अपना माल बेचने का भी कोई कारण नहीं है। आप बाजार के आकार की दृष्टि से बहुत छोटा-सा उत्पादन कर रहे हैं। अत: आप प्रचलित बाजार कीमत पर जितना भी उत्पादन करें, उसे बेच पाने में सफल रहेंगे। इसलिए आप बाजार कीमत को स्वीकार करने वाले उत्पादक होंगे।

4.1.2 कुल आगम और कीमत

जब आप यह बात स्वीकार कर लेते हैं कि प्रत्येक फर्म बाजार में प्रचलित कीमत को स्वीकार कर उसी पर जितना चाहे उत्पादन बेच सकती है तो फिर कुल आगम (TR) का उत्पादन स्तर के साथ संबंध बहुत ही सरल और स्पष्ट हो जाता है।[3] उदाहरण के लिए आप 5 किलो जलेबी बेचते हैं तो आपका कुल आगम 5 × 70 = 350 रु. और 6 किलो बेचने पर यह 420 रुपए हो जाएगा। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। तालिका 4.1 में हम इसी उदाहरण से जुड़ी कुल आगम सारणी की रचना कर रहे हैं।

तालिका 4.1

सकल आगम सारणी

उत्पादन (किलो)	कुल आगम (रुपए)
0	0
1	70
2	140
3	210
4	280
5	350
6	420
7	490
8	560

जलेबियों की बाजार कीमत = 70 रुपए/किलो

4.1.3 कुल आगम वक्र और कीमत रेखा

यदि हम तालिका 4.1 की कुल आगम सारणी को X-अक्ष पर उत्पादन और Y-अक्ष पर कुल आगम दिखाने वाले रेखाचित्र में अंकित करें तो हमें कुल आगम वक्र मिल जाएगा। चित्र 4.1(क) यही दिखा रहा है। उत्पादन शून्य होने की अवस्था में स्वाभाविक ही है कि कुल आगम भी शून्य होगा। अत: कुल आगम वक्र निश्चित रूप से अक्ष केंद्र से ही आरंभ होता है। यही नहीं, इस चित्र में यह एक सरल रेखा भी है। इसका

[2] *इसका अर्थ यह कदापि नहीं होगा कि बाजार में कीमत सदैव अपरिवर्तित रहेगी। इस बाजार में परिवर्तन की प्रक्रिया पर हम अध्याय 5 में चर्चा करेंगे।*

[3] *पूर्ण प्रतियोगिता की तीसरी विशेषता (ग) अर्थात् बाजार में निबंध प्रवेश या उससे निकासी का TR पर कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ता। यह मुख्यत: उत्पादन के स्तर पर ही निर्भर रहता है। इस बारे में हम कुछ और विचार अध्याय 6 में करेंगे।*

कारण यही है कि बाजार कीमत किसी एक फर्म द्वारा उत्पादित मात्रा से पूरी तरह **स्वतंत्र** होती है।

आइए अब चित्र 4.1(ख) पर विचार करें। यहाँ X-अक्ष पर तो उत्पादन ही दिखाया गया है किंतु Y-अक्ष पर कुल आगम नहीं बल्कि कीमत दिखाई गई है। हम जानते हैं कि बाजार कीमत उत्पादक की निर्णय प्रक्रिया की दृष्टि से **बाह्य** चीज है। अतः बाजार कीमत स्तर पर एक क्षैतिज सरल रेखा प्राप्त हो जाती है। इसे **कीमत रेखा** कहा जाता है। इसी को प्रतियोगी फर्म के (समक्ष प्रस्तुत) **माँग वक्र** का नाम भी दिया जाता है, क्योंकि फर्म इस निर्दिष्ट बाजार कीमत पर चाहे जितना माल बेच सकती है (इस माँग वक्र की लोच अनंत होती है)।
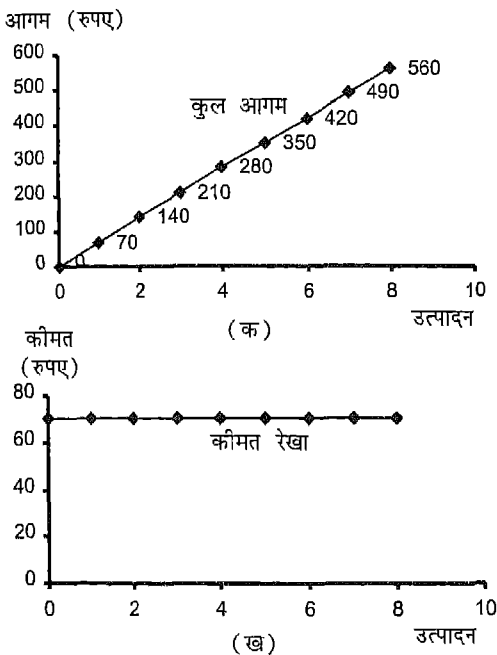
चित्र 4.1 : सकल आगम वक्र तथा तालिका 4.1 के अनुरूप कीमत रेखा
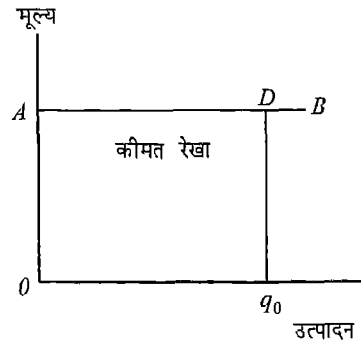
चित्र 4.2 : कीमत रेखा और सकल आगम

इस कीमत रेखा और कुल आगम के बीच एक निश्चित संबंध होता है। यह है–*कुल आगम कीमत रेखा के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रफल के समान रहता है।* यही बात चित्र 4.2 द्वारा समझाई जा रही है। इसमें AB एक काल्पनिक कीमत रेखा है। मान लो कि फर्म q_0 मात्रा का उत्पादन कर रही है। अतः

कुल आगम (TR) = कीमत × मात्रा

$= OA \times Oq_0 = OAD\, q_0$

यही कीमत रेखा के नीचे का क्षेत्रफल (q_0 बिंदु तक) भी है।

4.1.4 औसत आगम तथा सीमांत आगम

आगम से संबंधित दो और संकल्पनाएँ हैं–औसत आगम (AR) को प्रति इकाई उत्पादन के आगम के रूप में परिभाषित किया जाता है। यह TR/उत्पादन के समान होता है। आप जानते ही हैं कि TR = कीमत × उत्पादन। अतः *औसत आगम (AR) सदा ही कीमत के समान रहता है।*

सीमांत आगम (MR) को उत्पादन की एक अतिरिक्त इकाई बेचने से कुल आगम में वृद्धि के रूप में परिभाषित किया जाता है। यह एक और या अन्तिम इकाई की बिक्री से प्राप्त आगम के समान होती है।[4]

[4] *यह सीमांत उपयोगिता और सीमांत लागत से मिलता-जुलता विचार ही है।*

पूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक फर्म कीमत स्वीकारक होती है। अत: एक और इकाई बेचने पर मिला अतिरिक्त आगम कीमत के ही समान होगा। एक प्रतियोगी फर्म के लिए MR = कीमत[5] हमारे वर्तमान अध्याय में AR और MR की संकल्पनाओं का अधिक उपयोग नहीं होगा। इन्हें केवल आगम संबंधी सभी संकल्पनाओं को एक स्थान पर परिभाषित करने के लिए ही यहाँ शामिल किया गया है। इनकी मुख्य आवश्यकता हमें अध्याय 6 में होगी।

4.2 उत्पादक का संतुलन–आपूर्ति वक्र का आधार

अब हम उत्पादक के संतुलन का अध्ययन कर सकते हैं। यहाँ हमारे सामने प्रश्न यही है कि उत्पादन के किस स्तर पर फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त होगा? हमने अध्याय 2 में उपभोक्ता के संतुलन को समझाने के लिए तो कुछ आँकड़ों का सहारा लिया था किंतु यहाँ हम रेखाचित्रों का प्रयोग करेंगे। वास्तव में अध्याय 3 तथा वर्तमान अध्याय के खंड 4.1 में विकसित रेखाचित्र उत्पादक के संतुलन से जुड़े इस प्रश्न का समाधान करने में समर्थ हैं। हमें अपने लागत और आगम के अध्ययन से केवल दो निष्कर्षों की ही यहाँ आवश्यकता होगी–

(1) कुल परिवर्ती लागत सीमांत लागत वक्र के अधीनस्थ क्षेत्रफल के समान है।

(2) कुल आगम कीमत रेखा के अधीनस्थ क्षेत्रफल के समान है।

4.2.1 अधिकतम लाभ की शर्त

अब चित्र 4.3 पर ध्यान दें। एक प्रतियोगी फर्म के बाजार में कीमत P_0 है। अत: उसके समक्ष कीमत रेखा P_0A'' होगी। इसका सीमांत लागत वक्र MC है। फर्म का लाभ अधिकतम करने वाला उत्पादन स्तर क्या होगा? उत्तर है– q_0 । दूसरे शब्दों में, हमारा अभिप्राय है कि सामान्यत: एक प्रतियोगी फर्म का लाभ उस बिंदु पर अधिकतम होता है जहाँ कीमत रेखा MC वक्र को काट रही हो, अर्थात जहाँ–

(A) $P = MC$

यहाँ P बाजार कीमत को दर्शा रहा है।

यही उत्पादक के संतुलन की लाभ को अधिकतम करने वाली शर्त है।[6]

कीमत रेखा और सीमांत लागत वक्र के प्रतिच्छेदन बिंदु पर लाभ अधिकतम क्यों हो जाता है? हमने कुल लाभ की परिभाषा करते समय उसे TR–TVC के समान बताया था। वैसे परिभाषा की दृष्टि से इस सकल लाभ में स्थिर लागत (TFC) और लाभ सम्मिलित होते हैं, किंतु TFC का स्तर स्थिर रहता है। अत: दोनों के योगफल को अधिकतम करने का अर्थ होगा लाभ को अधिकतम करना। अब हम कह सकते हैं कि यदि बाजार कीमत P_0 हो तो q_0 उत्पादन करने पर कुल लाभ अधिकतम होगा। यह उत्पादन स्तर q_0 उसी बिंदु से जुड़ा है जहाँ कीमत रेखा P_0 सीमांत लागत वक्र MC को काट रही है।

हमारा कुल आगम = कीमत रेखा के अधीनस्थ क्षेत्रफल = OP_0Aq_0। कुल परिवर्ती लागत = सीमांत लागत वक्र MC के अधीनस्थ क्षेत्रफल = $ODA\,q_0$। अत: कुल लाभ = $OP_0Aq_0 - ODAq_0 = DP_0A$ होगा। अब q_0 से कम किसी उत्पादन पर विचार करके देखें। मान लो कि ऐसा एक उत्पादन स्तर q' है $[q' < q_0]$। पहले ही की भाँति आकलन करने पर कुल लाभ का मान $DP_0A'B$ क्षेत्रफल के समान होता है। यह DP_0A से कम है। आइए अब q_0 से

---

[5] *यह बात गैर प्रतियोगी फर्मों पर लागू नहीं होगी।*

[6] *ध्यान दें–यह शर्त अध्याय 2 में उपभोक्ता के संतुलन की शर्त जैसी ही है। वहाँ सीमांत उपयोगिता कीमत के समान थी।*

अधिक उत्पादन स्तर $q'' > q_0$ पर विचार करें। अब हमारा कुल आगम $OP_0A''q''$ होगा यहाँ कुल परिवर्ती लागत का मान $ODCA''q''$ है। अत: कुल लाभ $OP_0A''q'' - ODCq'' = DP_0A - ACA''$ अत: q_0 से भिन्न किसी भी उत्पादन स्तर पर, वह चाहे q_0 से कम हो या अधिक कुल लाभ (q_0 के कुल लाभ से) कम रह जाता है। अत: यह बात सिद्ध हो जाती है कि q_0 उत्पादन स्तर पर, जहाँ P = MC, कुल लाभ और उसी के कारण लाभ का स्तर अधिकतम होता है।
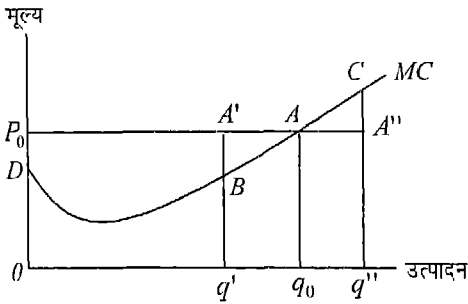
चित्र 4.3 : लाभ को अधिकतम करना

4.2.2 अधिकतम लाभ की शर्त P = MC का तार्किक आधार

अध्याय 2 में हमने देखा कि उपभोक्ता के संतुलन की शर्त **सीमांत उपयोगिता कीमत के समान होगी** का आधार सीमांत उपयोगिता ह्रासमान होने की विशेषता थी। उसी प्रकार से उत्पादन के संतुलन की शर्त P = MC का आधारभूत कारण यही है कि **उत्पादन में वृद्धि के कारण सीमांत लागत में भी वृद्धि हो रही है।**

आइए इस संबंध को कुछ और स्पष्ट करें। P = MC के उत्पादन स्तर से आरंभ कर फर्म एक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन करने का निर्णय लेती है। MC के वृद्धिमान होने का परिणाम होगा कि अब उस इकाई को बेचने से प्राप्त आगम P सीमांत लागत MC से कम रह जाएगी। ये P अतिरिक्त कमाए गए आगम तथा MC अतिरिक्त लगी हुई लागत के समान है। अत: इस उत्पादन वृद्धि से प्राप्त आगम, लागतों की वृद्धि से कम रहता है। परिणामस्वरूप लाभ में कमी आएगी। दूसरी ओर यदि फर्म ने P = MC स्तर से एक इकाई उत्पादन कम किया होता तो वह आगम में P रुपयों का घाटा सहन करती। किंतु यह घाटा लागत में आई कमी से कम रह जाता। अत: फिर से हमें लाभ में कमी के ही दर्शन होते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि P = MC स्तर के उत्पादन से कम या ज्यादा उत्पादन करने पर लाभ में कमी ही होती है। जब तक उत्पादन के साथ-साथ सीमांत लागतों में वृद्धि हो रही हो, P = MC द्वारा निर्धारित उत्पादन स्तर पर अर्जित लाभ ही अधिकतम लाभ होगा।
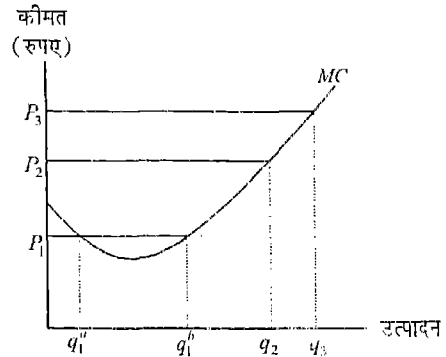
चित्र 4.4 : अलग-अलग कीमत स्तरों पर लाभ (लाभ का अधिकतम होना)

हमारी उपर्युक्त चर्चा का एक अर्थ यह भी होगा—यदि किसी बाजार कीमत पर P = MC की शर्त तो पूरी हो रही हो, किंतु MC में गिरावट आ रही हो, तो उस उत्पादन स्तर को **अधिकतम लाभ वाला उत्पादन** नहीं कहा जा सकता। चित्र 4.4 एक ऐसी ही संभावना की ओर ध्यान आकर्षित कर रहा है। कीमत P_1 होने पर कीमत रेखा MC को दो बिंदुओं पर काट रही है, q_1^a तथा q_1^b। यहाँ q_1^b के विपरीत

q_1^a पर MC में कमी आ रही है। इस दशा में लाभ को अधिकतम करने वाला उत्पादन स्तर q_1^b होगा, q_1^a नहीं।[7] उपर्युक्त विश्लेषण का सार यही है—**एक प्रतियोगी फर्म उठती हुई MC वक्र के किसी बिंदु पर ही उत्पादन करने का चयन करेगी।**

4.2.3 अधिकतम लाभ की अधिक व्यापक रूप से मान्य शर्त

आपको MR की परिभाषा का ध्यान होगा। हमने वहीं यह स्पष्टीकरण किया था कि प्रतियोगी फर्म के संदर्भ में कीमत (या औसत आगम) सीमांत आगम के समान होगा, अर्थात [P = MR]। अत: हम उत्पादक की संतुलन शर्त (A) को एक नए रूप में भी लिख सकते हैं—MR = MC। इसका तात्पर्य होगा—*सीमांत आगम सीमांत लागत के समान है।* वास्तव में यह लाभ को अधिकतम करने की सर्वमान्य शर्त है। यह शर्त केवल पूर्ण प्रतियोगिता ही नहीं अन्य सभी प्रकार की बाजार संरचनाओं पर भी लागू रहती है।

इस कथन को ध्यान में रखते हुए हम वर्तमान अध्याय में अपनी पूर्व परिचित शर्त P = MC पर ही वापस चले चलते हैं।

4.2.4 आपूर्ति का नियम और आपूर्ति वक्र

आपूर्ति के नियम के अनुसार अन्य बातें अपरिवर्तित रहने पर किसी उत्पाद की कीमत में वृद्धि होने पर उत्पादक उसकी अधिक मात्रा की आपूर्ति करेगा। दूसरे शब्दों में कीमत जितनी ज्यादा होगी, उत्पादक उतना अधिक माल बेचना चाहेगा। यहाँ **अन्य बातों** से तात्पर्य उन अन्य कारकों से है जो आपूर्ति को प्रभावित करते हैं। उनके विषय में हम बाद में विचार करेंगे।

आपूर्ति के नियम को तालिका के रूप में प्रस्तुत करने पर हमें आपूर्ति सारणी प्राप्त होती है। इसी सारणी को रेखाचित्र में अंकित करने पर आपूर्ति वक्र मिल जाता है। तालिका 4.2 में हम एक आपूर्ति तालिका बना रहे हैं। उसी सारणी को रेखांकित कर हमने चित्र 4.5 में आपूर्ति वक्र की रचना की है।

तालिका 4.2

एक आपूर्ति सारणी

कीमत (रुपए)	आपूर्ति की मात्रा (इकाइयाँ)
5	0
10	7
15	16
20	28
25	43
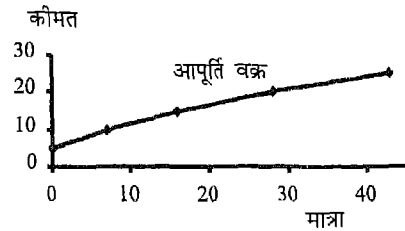
चित्र 4.5 : तालिका 4.2 की आपूर्ति सारणी का आपूर्ति वक्र

---

[7] *मान लो कि फर्म q_1^a पर ही उत्पादन करने का फैसला करती है। यदि यह उत्पादन की एक इकाई बढ़ाए तो इसका अतिरिक्त आगम P_1 होगा तथा अतिरिक्त लागत MC। पर यहाँ उत्पादन वृद्धि के कारण MC कम हो रही है। अत: P_1 > MC। स्वाभाविक है उत्पादन बढ़ाने पर फर्म को और अधिक लाभ हो सकता है। इसी प्रकार के तर्क का प्रयोग कर आप समझ सकते हैं कि यदि उत्पादन में एक इकाई की कमी की जाए तो लाभ में और कमी हो जाएगी। अत: q_1^a उत्पादन पर लाभ का स्तर अधिकतम नहीं होता।*

आपूर्ति के नियम अथवा आपूर्ति वक्र का तार्किक आधार क्या है? एक बार फिर से चित्र 4.4 पर ध्यान दें। हमने देखा था कि P_1 कीमत पर फर्म q_1^b उत्पादन कर रही थी। P_2 कीमत पर उसका उत्पादन q_2 हो गया था आदि। अत: सभी कीमत उत्पादन संयोजन ऊपर उठती हुई MC वक्र के बिंदु ही हैं। हम कुछ इस प्रकार भी उत्पादन की व्याख्या कर सकते हैं : फर्म अपने पास संग्रह करके कुछ न रखे तो सारा उत्पादन ही बाजार में बिक्री के लिए भेज दिया जाएगा। अत: हम कह सकते हैं कि MC वक्र का ऊपर उठता हुआ भाग ही आपूर्ति वक्र होता है।[8]

4.3 आपूर्ति की मात्रा में परिवर्तन बनाम आपूर्ति में परिवर्तन

इन दोनों कथनों में उसी प्रकार के अंतर हैं जैसे कि माँग की मात्रा तथा माँग के परिवर्तन में थे। आपूर्ति की मात्रा के परिवर्तन का अर्थ है आपूर्ति वक्र के एक बिंदु से किसी अन्य बिंदु की ओर जाना। यह परिवर्तन मुख्यत: कीमत परिवर्तन के कारण आता है। दूसरी ओर आपूर्ति के परिवर्तन पूरे आपूर्ति वक्र की स्थिति में अन्य कारकों के प्रभाव स्वरूप आए परिवर्तन का सूचक है। आइए अब इन **अन्य कारकों** के बारे में बातचीत करें।

4.4 आपूर्ति वक्र के निर्धारक

हमने खंड 4.2 में देखा है कि आपूर्ति वक्र सीमांत लागत वक्र का ही एक भाग है। अत: वे सभी कारक जो सीमांत लागत वक्र के निर्धारक हैं और जिनके कारण MC की स्थिति में परिवर्तन आ सकते हैं उन्हें हम आपूर्ति वक्र की स्थिति के निर्धारक मान सकते हैं। ये कारक दो प्रकार के होते हैं : तकनीकी परिवर्तन और आदानों या साधनों की कीमतों के परिवर्तन।

यही नहीं, भारत सहित अनेक देशों में सरकारें ऐसे कर भी लगाती हैं जिनका आधार फर्म की कुल उत्पादन लागत होती है। इन्हें उत्पादन शुल्क या उत्पादन कर कहा जाता है। ऐसे उत्पादन शुल्क के लगने और शुल्क की दरों में परिवर्तन के कारण भी आपूर्ति वक्र की स्थिति में परिवर्तन आ सकते हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे प्रभाव होते हैं जिन्हें हमारे सरलीकृत लाभ अधिकतम करने के विश्लेषण में समाहित करना सरल नहीं होता। ये हैं–अन्य संबद्ध वस्तुओं की कीमतों में उतार-चढ़ाव।

इस खंड में अब हम इन्हीं चार प्रकार के कारकों पर विचार करेंगे। इन्हें ही हम आपूर्ति के चार निर्धारक मानते हैं।[9]

4.4.1 तकनीकी परिवर्तन

विश्व भर में विज्ञान एवं तकनीकी विकास के कार्यों में लगी अनेक प्रयोगशालाएँ तथा व्यावसायियों के अपने शोध विभाग निरंतर ऐसी तकनीकों की खोज में लगे रहते हैं जिनके प्रयोग द्वारा उत्पादन की लागत को कम किया जा सके। छापे-खाने के व्यवसाय को ही लें। पुराने समय में एक पुस्तक को छापकर बाजार में लाने की प्रक्रिया बहुत जटिल होती थी।[10] आज के

[8] *वस्तुत: आपूर्ति वक्र उठते हुए सीमांत लागत वक्र का एक अंश मात्र होता है। इसके कारणों पर चर्चा अर्थशास्त्र के उच्च स्तरी पाठ्यक्रम में की जाएगी।*

[9] *तर्क की दृष्टि से यह कहना अधिक उपयुक्त होगा–आपूर्ति वक्र वस्तुत: उठते हुए MC वक्र का ही एक हिस्सा होता है।*

[10] *उस समय लेखक अपनी रचना हाथ से साफ-साफ लिखकर देते थे। फिर उस पांडुलिपि के आधार पर आवश्यक धातु के बने हुए वर्णमाला के अक्षरों और चिह्नों को एक सांचे में जमाकर रखा जाता है। उस सांचे को छपाई की मशीन में कस कर छपाई होती थी। चित्रों और रेखा चित्रों को तो धातु की प्लेटों पर उत्कीर्ण किया जाता था–यदि किसी चित्र या रेखाचित्र में मामूली परिवर्तन जरूरी होता तो पूरी प्लेट का दुबारा निर्माण होता था। इन प्लेटों और सांचों पर मशीनी ढंग से स्याही लगाकर उनसे कागज पर दबाव देते थे। इस प्रकार किताब का एक पृष्ठ छपता था।*

कंप्यूटर युग में शब्द विधायन (Word processing), विस्तार-फलक (Spread sheets) और प्रस्तुति संवेष्ठकों (Presentation packages) के प्रयोग से वास्तविक छपाई से पूर्व के सारे कार्य कंप्यूटर में ही पूरे हो जाते हैं। यदि पांडुलिपि के किन्ही शब्दों, वाक्यों या चित्रों आदि को बदलना हो तो यह काम भी प्रायः शून्य लागत पर ही हो जाता है। नए कंप्यूटर चालित मुद्रण यंत्रों ने छपाई के काम को बहुत आसान और सस्ता बना दिया है। आज का व्यावसायिक प्रकाशक 1980 से पूर्व की तुलना में, पुस्तक के पृष्ठों की संख्या चाहे जितनी भी हो, बहुत कम औसत और सीमांत लागत पर काम कर रहा है। यह लागतों में बचत करने वाले प्रौद्योगिकीय परिवर्तन का एक उदाहरण है। वास्तविक जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाते हैं।[11]

इस प्रकार के प्रौद्योगिक या तकनीकी परिवर्तन उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर सीमांत लागतों को कम कर देते हैं। तालिका 4.3 इसी बात की ओर ध्यान दिला रही है। स्तंभ 2 में पुरानी छपाई की विधि की सीमांत लागत दी गई है। तीसरा स्तंभ नई तकनीकों के आधार पर छपाई की सीमांत लागतों का ब्यौरा दे रहा है।[12] ध्यान देने योग्य बात यह है कि तीसरे स्तंभ की प्रत्येक प्रविष्टि दूसरे स्तंभ की तत्संगत प्रविष्टि से कम है। इसका अभिप्राय है कि उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर सीमांत लागत कम हुई है। चित्र 4.6 में इन दोनों सीमांत लागत सारणियों का चित्रांकन किया गया है। यह स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है कि नया MC वक्र पुराने से नीचे या दाहिनी ओर स्थित है। हम यह तो जानते ही हैं कि MC वक्र ही वास्तव में आपूर्ति वक्र का रूप धारण कर लेता है। अतः हम कह सकते हैं कि *तकनीकी प्रगति आपूर्ति वक्र को दाहिनी ओर खिसका देता है।*

तालिका 4.3

तकनीकी प्रगति से सीमांत लागत में गिरावट

उत्पादन	पुरानी MC (रुपए)	नई MC (रुपए)
0	7	3
1	8	4
2	12	7
3	14	9
4	17	13
5	22	17
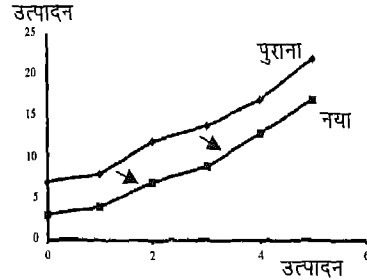
चित्र 4.6 : तकनीकी प्रगति और आपूर्ति वक्र का स्थिति परिवर्तन (खिसकना)

4.4.2 आदानों की कीमतों में परिवर्तन

कच्चे माल के दामों में परिवर्तन, श्रमिकों की मजदूरी में बदलाव आदि भी सीमांत लागत वक्र को प्रभावित करते हैं। मान लो कि आप एक नाई की दुकान चला रहे हैं जिसमें आपने 10 नाई काम पर रखे हैं। वे सामान्यतः प्रतिदिन 120 ग्राहकों की हजामत बनाते

[11] *यहाँ हम नए उत्पादों/वस्तुओं के विकास से जुड़ी तकनीकी प्रगति के विषय में चर्चा नहीं कर पाएँगे।*

[12] *दोनों दशाओं में उत्पादन वृद्धि के साथ ही सीमांत लागत में भी वृद्धि हो जाती है।*

हैं। किसी कारण से नाइयों को दिए जाने वाले प्रति घंटा पारिश्रमिक में वृद्धि का क्या परिणाम होगा? आपकी दुकान में दी जा रही हजामत सेवा की लागत में वृद्धि हो जाएगी आपका सीमांत लागत वक्र बाईं ओर अथवा ऊपर को खिसक जाएगा। परिणामस्वरूप आप संभवत: कम नाईयों के सहारे अपना काम चलाने का प्रयास करेंगे। इसी प्रक्रिया में आप पहले की तुलना में कम ग्राहकों को सेवा प्रदान कर पाएँगे।
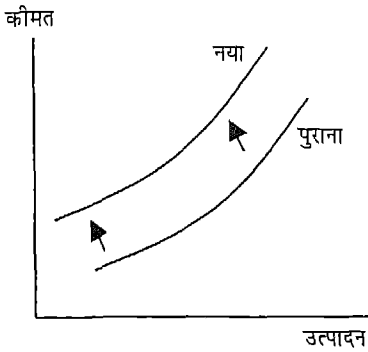
चित्र 4.7 : साधन कीमतों में वृद्धि और आपूर्ति वक्र का स्थिति परिवर्तन

अत: हम कह सकते हैं कि सामान्यत: *आदान कीमतों में वृद्धि (कमी) से आपूर्ति वक्र बाईं (दाहिनी) ओर खिसक जाता है।* आदान कीमतों में वृद्धि के एक उदाहरण का रेखांकन चित्र 4.7 में किया गया है।

4.4.3 उत्पादन शुल्क की दर में परिवर्तन

भारत में विनिर्माण क्षेत्र में कार्य कर रहे उत्पादकों को उत्पादन शुल्क का भुगतान केंद्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारों को करना होता है। यह कर फर्म की कुल उत्पादन लागत के आधार पर निर्धारित होता है। इस प्रकार से यह कुल परिवर्ती लागत के साथ जुड़ जाता है। इसी से इस कर की दर में परिवर्तन का फर्म की सीमांत लागत पर प्रभाव पड़ता है।

मान लो किसी वस्तु पर लगे उत्पादन शुल्क की दर में वृद्धि हो जाती है। परिणामत: प्रत्येक उत्पादन स्तर पर सीमांत लागत में वृद्धि हो जाएगी। इससे MC वक्र या आपूर्ति वक्र बाईं ओर खिसक जाएगा।

अत: *उत्पादन शुल्क की दर में वृद्धि (कमी) के परिणामस्वरूप आपूर्ति वक्र बाईं (दाहिनी) ओर खिसक जाता है।*

4.4.4 अन्य संबद्ध वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन

अनेक उत्पादक संसाधनों की उपलब्ध मात्रा का प्रयोग कर कई तरह की चीज़ों का उत्पादन करते हैं। एक किसान की बात लें। वह अपनी भूमि पर गेहूँ या मक्का या दोनों की ही खेती कर सकता है। यदि गेहूँ की बाजार कीमत में वृद्धि हो जाए तो वह किसान मक्का की कीमत, उसे उगाने की तकनीकों और उसके लिए आवश्यक आदानों की लागतें अपरिवर्तित रहने पर भी अपने खेत में मक्का के स्थान पर गेहूँ की खेती करना बेहतर समझेगा। इसका कारण यही है कि उसे मक्का उगाने में (अब) कम लाभ दिखाई पड़ता है जबकि गेहूँ उगाकर वह ज्यादा मुनाफा कमाने की आशा कर रहा है। इस कारण मक्का का आपूर्ति वक्र बाईं ओर खिसक जाएगा।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं–*किसी प्रतिस्थापक वस्तु की कीमत में वृद्धि (कमी) के कारण आलोच्य वस्तु का आपूर्ति वक्र बाईं (दाहिनी) ओर खिसक जाता है।*

4.5 बाजार आपूर्ति वक्र

यह संकल्पना बाजार माँग के विचार से मेल खाती है। इसे विभिन्न फर्मों के आपूर्ति वक्रों के क्षैतिज योगफल द्वारा निरूपित किया जाता है। अध्याय 2 में बाजार माँग सारणी की रचना व्यक्तिगत माँगों के आँकड़ों को जोड़कर की गई थी। यहाँ हम बाजार

आपूर्ति वक्र की व्युत्पत्ति विभिन्न फर्मों की अलग-अलग आपूर्ति वक्रों का ज्यॉमितीय विधि से योगफल द्वारा कर रहे हैं। हमारा ध्येय यही है कि आपको आँकड़ों के जोड़ों के साथ-साथ वक्रों के ज्यॉमितीय योगफल की विधि भी समझ आ जाए।

मान लेते हैं कि किसी उद्योग में केवल दो फर्में हैं--A और B। चित्र 4.8 में S_A, S_B तथा S_{A+B} द्वारा हम फर्म A का आपूर्ति वक्र, फर्म B का आपूर्ति वक्र और बाजार का आपूर्ति वक्र दिखा रहे हैं।
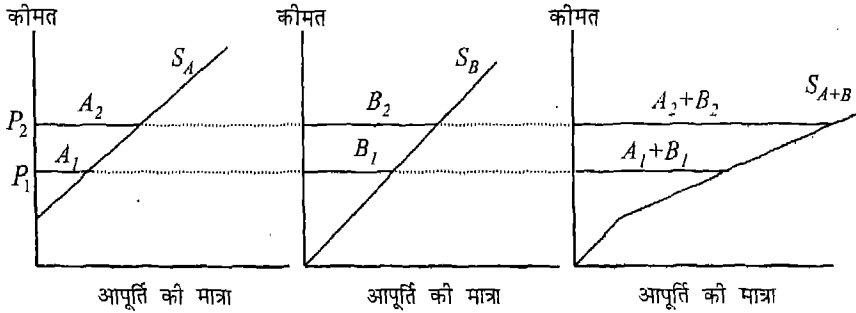
चित्र 4.8 : फर्मों की अलग-अलग आपूर्ति वक्र और बाजार आपूर्ति वक्र

P_1 कीमत पर फर्म A केवल A_1 मात्रा की आपूर्ति करना चाहती है तो दूसरा उत्पादक बाजार में B_1 मात्रा बेचने का इच्छुक है। अत: बाजार में आ रही कुल मात्रा $A_1 + B_1$ होगी। इसे हमने $S_A + B_2$ वक्र पर P_1 कीमत के सामने दिखाया है। इसी प्रकार P_2 कीमत पर कुल बाजार आपूर्ति $A_2 + B_2$ होती है, जहाँ A_2 और B_2 क्रमशः फर्म A और B द्वारा उत्पादित मात्राएँ हैं। बाजार आपूर्ति वक्र के सभी बिंदुओं का निर्धारण इसी प्रकार किया जाता है।

एक और बात पर ध्यान दें--बाजार आपूर्ति वक्र की रचना उस उद्योग में वर्तमान फर्मों की संख्या (100, 200...या चाहे जो भी संख्या हो) के आधार पर की जाती है। अतः तकनीकी परिवर्तनों, आदान लागतों आदि के परिवर्तन के कारण जब उत्पादकों की निजी आपूर्ति में परिवर्तन होने पर बाजार आपूर्ति वक्र की स्थिति में परिवर्तन अनिवार्य होता है। बाजार वक्र में परिवर्तन का एक अन्य कारण फर्मों की सख्या में परिवर्तन भी हो सकता है। *यदि किसी बाजार में फर्मों की संख्या में वृद्धि (कमी) हो जाए तो बाजार आपूर्ति वक्र दाहिनी (बाईं) ओर खिसक जाएगा।*[13]

---

[13] *आप जानते हैं कि भारत में 1990 से आर्थिक नीतियों में उदारीकरण की प्रक्रिया चल रही है। अनेक विदेशी कंपनियाँ पहले चाहकर भी भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों/उद्योगों में प्रवेश नहीं कर पाती थीं पर अब उनके लिए प्रवेश द्वार खुल गए हैं। अतः उदारीकरण के कारण प्रतियोगिता में बहुत वृद्धि हुई है। इसका सबसे प्रमुख उदाहरण वाहन उद्योग है। 1970 के दशक तक भारत के यात्रीकार बाजार में केवल दो उत्पादक थे हिन्दुस्तान मोटर्स अम्बेस्डर और प्रीमियर ऑटो अपनी पद्मनि कार बना रहे थे। 1980 के दशक में भारत सरकार और जापान की सुजुकी मोटर निगम ने मिलकर मारुति का उत्पादन प्रारंभ किया। पर 1990 के बाद से तो अनेक विदेशी कंपनियाँ आ गई हैं--जैसे कोरिया की देवू (सीलो और मतीज), हुदै (सैंट्रो और एस्सेंट), जापान की होंडा (होंडा सिटी) आदि। यही नहीं भारत के अपने भारी वाहनों (ट्रकों और बसों के निर्माता टेल्को भी कारों के बाजार में उतर आए हैं (इंडिका)।*

4.6 काल परिप्रेक्ष्य

आपूर्ति वक्र की ऊपर की ओर उठने की प्रवृत्ति के लिए किसी सीमा तक समय भी उत्तरदायी होता है। मान लो कि आप चुईंगम निर्माता हैं। बाजार में काफी समय से आपके उत्पाद की प्रति इकाई कीमत एक रुपया चल रही है। आप इस कीमत पर प्रति मास 1 लाख चुईंगम बनाकर बेचते रहे हैं। मान लो कि बाजार कीमत दो रुपए हो जाती है। यह तो आपके लिए मुँह माँगी मुराद होगी। विवेकशील उत्पादक होने के नाते आप तुरंत उत्पादन बढ़ाना चाहेंगे। इसके लिए आप और अधिक श्रमिक, रसायनविज्ञ, अभियंताओं और यंत्र-संयत्रादि की व्यवस्था करेंगे। इसका अर्थ होगा कि आपकी आपूर्ति वक्र का ढाल ऊपर की ओर हो जाएगा। वैसे आप तुरंत ही नए संयंत्र और कामगारों से काम शुरू नहीं करा पाएँगे। इसमें कुछ समय अवश्य लगेगा। ये परिवर्तन अल्पकाल में प्रभावी नहीं हो पाएँगे। अतः अत्याल्पकाल में तो आपका उत्पादन स्थिर ही रहेगा, चाहे कीमत एक रुपया हो, दो, तीन या डेढ़ रुपया। आपका अतिअल्प कालिक आपूर्ति वक्र तो चित्र 4.9 में दिखाई गई ऊर्ध्व रेखा जैसा ही रहेगा। ऐसे अत्याल्पकाल को हम **बाजार-काल** भी कहते हैं। यह **वह अवधि होती है जिसमें फर्में कीमत परिवर्तन के कारण अपना उत्पादन परिवर्तित नहीं कर पातीं**। ऐसी दशा में तो बाजार आपूर्ति वक्र ऊर्ध्वाकार ही रहता है।
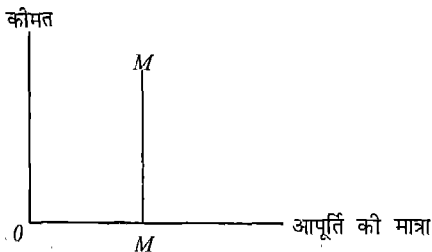
चित्र 4.9 : बाजार काल में आपूर्ति वक्र

जैसे-जैसे समय बीतता है, अल्पकालिक और फिर दीर्घकालिक व्यवहार स्पष्ट हो जाता है। आपूर्ति वक्र ऊपर की ओर उठने लगता है, जैसे कि हमने पहले बताया था (इसका कारण यही है कि आदान परिवर्तन संभव हो जाता है)।

4.7 आपूर्ति की कीमत लोच

4.7.1 परिभाषा और प्रतिशत विधि से आपूर्ति की लोच का मापन

माँग की कीमत लोच की ही तरह आपूर्ति की कीमत लोच भी कीमत परिवर्तन के प्रति आपूर्ति की संवेदनशीलता के परिमाण को अभिव्यक्त करती है। इसका सूत्र इस प्रकार है–

(B) आपूर्ति की कीमत लोच = e_s

$$= \frac{\text{आपूर्ति की मात्रा में \% परिवर्तन}}{\text{कीमत में \% परिवर्तन}}$$

मान लो कि किसी आपूर्ति वक्र पर P_0 तथा S_0 आरंभिक कीमत और मात्रा है। कीमत P_1 होने पर मात्रा भी बढ़कर S_1 हो जाती है। अतः इन दोनों में प्रतिशत परिवर्तन होंगे–

$$[(P_1 - P_0)/P_0] \times 100$$

और $$[(S_1 - S_0)/S_0] \times 100$$

इसीलिए

(C) $$e_s = \frac{(S_1 - S_0)/S_0}{(P_1 - P_0)/P_0} = \frac{\Delta S/S_0}{\Delta P/P_0}$$

यहाँ Δ परिवर्तन का सूचक है।

यदि आपूर्ति वक्र ऊर्ध्वाकार हो तो स्पष्ट ही है कि लोच का मान शून्य होगा। सामान्यतः आपूर्ति वक्र का ढाल धनात्मक होता है। इसी कारण कीमत लोच भी धनात्मक रहती है।

आइए अब एक उदाहरण पर विचार करें–आप एक बाल पैन निर्माता हैं। जब बाजार में बाल पैन की

कीमत 8 रुपए थी तो आप प्रति मास 5000 पैन बेच रहे थे। बाजार कीमत में वृद्धि होकर वह 10 रुपए हो गई है। अब आप 8000 पैन प्रतिमाह बेचने लगे हैं। इस उदाहरण में $P_0 = 8$ रुपए $S_0 = 5000$, $P_1 = 10$ रुपए $S_1 = 8000$ ।

अत: $[(P_1 - P_0)/P_0] \times 100$

$= [(10 - 8)/8] \times 100 = 25$

और $[(S_1 - S_0)/S_0] \times 100$

$= [(8000 - 5000/5000] \times 100 = 60$

अत: $e_s = 60/25 = 2.4$

माँग की लोच की भाँति (क) आपूर्ति की लोच का मान भी आकलन की या मापन की इकाइयों से अप्रभावित रहता है और (ख) यदि दो आपूर्ति वक्र परस्पर काट रहे हों तो प्रतिच्छेदन बिंदु पर कम ढलवाँ आपूर्ति वक्र की लोचशीलता अधिक होती है। इनके कारण वही हैं जो माँग की लोच की इन्हीं विशेषताओं के निर्धारक थे।

4.7.2 ज्यॉमितिक विधि (आपूर्ति की लोच का ज्यॉमितिक मापन)

माँग की लोच की बिंदु विधि की भाँति कीमत में बहुत थोड़ा-सा परिवर्तन होने पर आपूर्ति की लोच के आकलन की भी एक सरल-सी ज्यॉमितिक विधि उपलब्ध है। चित्र 4.10 पर ध्यान दें–इसमें तीन सरल रेखीय आपूर्ति वक्र बनाए गए हैं। पहले भाग (क) में आपूर्ति वक्र Y-अक्ष को पार कर X-अक्ष के ऋणात्मक पक्ष में B बिंदु पर पहुँच रहा है। दूसरे भाग (ख) में आपूर्ति रेखा X-अक्ष के धनात्मक भाग में ही इसका प्रतिच्छेदन कर Y के ऋणात्मक अंश में B बिंदु पर पहुँच जाता है। तीसरे भाग (ग) में यह अक्ष केंद्र से प्रारंभ हो रहा है, तीनों ही दशाओं में प्रारंभिक कीमत P_0 है। OC प्रारंभिक आपूर्ति की मात्रा है और इस कीमत-आपूर्ति संयोजन को दर्शाने वाला आपूर्ति वक्र का बिंदु A है।

हम पाते हैं कि तीनों दशाओं में आपूर्ति की लोच का मान क्षैतिज अंतर BC और प्रारंभिक आपूर्ति OC के अनुपात के समान होता है : $e_s = BC/OC$ ।[14] (वैसे हम एक बार भाग (ग) को नज़रअंदाज कर सकते हैं क्योंकि इसमें बिंदु B दिखाया ही नहीं गया।)

अत: भाग (क) में आपूर्ति की कीमत लोच का मान इकाई से अधिक होगा, क्योंकि $BC > OC$ । इसी प्रकार भाग (ख) में लोच का मान इकाई से कम होगा वहाँ $BC < OC$ है।

अब भाग (ग) पर अलग से ध्यान दिया जा सकता है। यहाँ आपूर्ति वक्र जिस बिंदु पर X-अक्ष को भेद रहा है वह बिंदु अक्ष केंद्र O ही है। अत: हम O को ही B से समीकृत कर सकते हैं। इस प्रकार $BC = OC$ । फिर तो आपूर्ति लोच $e_s = 1$ । दूसरे शब्दों में यदि सरल रेखीय आपूर्ति वक्र अक्ष केंद्र से गुजर रहा हो तो उस वक्र की कीमत लोच का मान सदैव इकाई के समान होगा। उसके ढाल का लोच पर कोई प्रभाव नहीं होगा।
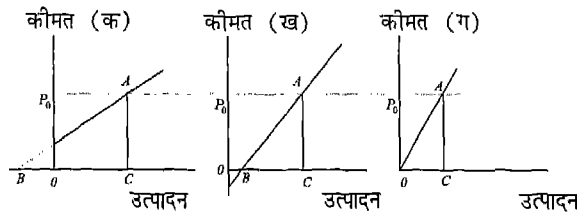
चित्र 4.10 : सरल रेखीय आपूर्ति वक्र और कीमत लोच

[14] *इस कथन का प्रमाण इस पुस्तक की परिधि से बाहर है।*

विषय 4.1

क्या कंप्यूटरीकरण से रोजगार में कमी आती है? (परीक्षा अनुपयोगी)

भारत जैसे भारी जनसंख्या वाले देशों में यह प्रश्न बहुत ही उत्तेजक हो सकता है। परंपरागत सूझ तो यही कहती है कि केवल कंप्यूटरीकरण ही क्यों, प्रत्येक ऐसा तकनीकी सुधार, जिससे श्रम की बचत होती हो रोजगार के स्तर को ठेस पहुँचाएगा। यदि कहीं किसी श्रमिक के स्थान पर मशीन को काम पर लगा देंगे तो रोजगार में कमी कैसे नहीं होगी? किंतु यह दृष्टिकोण संकीर्ण है। इसमें दो त्रुटियाँ हैं। एक तो यह विचार बहुत ही अल्पकालिक संदर्भ से जुड़ा है। दूसरे इसमें यह मान्यता भी छुपी है कि जिस व्यक्ति को इस मशीन ने प्रतिस्थापित किया है, वह और कुछ भी करने योग्य नहीं है तथा सदा ही बेरोजगार रह जाएगा।

हाँ यह सच है कि जिस समय बिंदु पर एक मशीन लगाकर एक या कई मजदूरों को हटाया जा रहा है तो एक बार अवश्य रोजगार कम होता दिखाई देगा। किंतु सारी कहानी यहीं समाप्त नहीं हो जाती। फर्म यह काम उत्पादन लागत को कम करने के ध्येय से कर रही है। परिणामतः उसका कुल परिवर्ती लागत वक्र खिसक कर नीचे आ जाएगा इसके प्रभाव से सीमांत लागत वक्र भी नीचे खिसक जाएगा। इसका अर्थ हुआ कि नए संतुलन स्तर पर पहले की अपेक्षा अधिक उत्पादन होगा। आपूर्ति वक्र स्थान बदल कर बाहर की ओर खिसक जाएगा। सारी अर्थव्यवस्था दृष्टि से इस पर विचार करें तो हमारा उत्पादन संभावना वक्र ही (संवर्धित होकर) बाहर की ओर खिसक जाता है (देखें अध्याय 1)। अर्थव्यवस्था व्यापी उत्पादन वृद्धि सभी प्रकार के कुशल और अकुशल श्रमिकों की सेवा की माँग में वृद्धि ला देगी। कंप्यूटरीकरण अपने आप में भी नए प्रकार के श्रम और कौशल के लिए माँग का सृजन करता है। अतः यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं बचता कि कंप्यूटरीकरण से दीर्घकालिक आधार पर रोजगार के स्तर में गिरावट आ जाएगी। वास्तव में इसके प्रभावस्वरूप श्रम की उत्पादिता में वृद्धि होगी और परिणामतः मजदूरी की दरों में सुधार होगा।

कंप्यूटरीकरण के नकारात्मक प्रभाव अल्पकाल तक ही सीमित रहते हैं। एक साधारण टाइपिस्ट जिसके स्थान पर कंप्यूटर को लगाया जा रहा है, शब्द विधायन सीखकर निश्चित रूप से अधिक कमाई वाला रोजगार पा सकता है। हाँ यह बात तो ठीक है कि यंत्रीकरण अपने हाथों से कारीगरी के नमूने पेश करने वाले दस्तकारों को बेराजगार कर सकता है। दूसरी ओर यंत्रीकरण लघु उद्योगों के प्रसार (तथा उत्पादन की गुणवत्ता में सुधार) के माध्यम से रोजगार के अधिक अवसरों का सृजन भी करेगा। अधिक से अधिक यही होगा कि पहले एक काम करने वाला शिल्पी अब कोई दूसरा काम करने लगेगा। केवल वही श्रमिक, जो बेरोजगार होकर भी कोई और काम नहीं सीखना चाहते (या नहीं सीख पाते) घाटे में रहेंगे। शेष सभी श्रमिक तो नए काम-धंधों में लग ही जाएँगे।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अति अल्पकाल में बेशक कंप्यूटरीकरण की **रोजगार लागत** (कमी के रूप में) हो सकती है, किंतु इसके दीर्घकालिक लाभ बहुत भारी होंगे।

सार संक्षेप

- एक पूर्ण प्रतियोगी फर्म की कुल आगम वक्र अक्ष केंद्र से गुजरने वाली सरल रेखा होता है।
- प्रतियोगी फर्म की कीमत रेखा क्षैतिज सरल रेखा होती है, क्योंकि यह फर्म बाजार कीमत को **स्वीकार** करती है।
- प्रतियोगी फर्म की कीमत रेखा को उसके उत्पादन का माँग वक्र भी माना जाता है।
- एक पूर्ण प्रतियोगी फर्म का लाभ अधिकतम उस समय होता है, अर्थात वह उत्पादन संतुलन में होता है, जब कीमत सीमांत लागत के समान हो।
- सामान्यत: किसी भी फर्म की अधिकतम लाभ कमाने की शर्त सीमांत आगम और सीमांत लागत की समानता है।
- अधिकतम लाभ की शर्त, **कीमत = सीमांत लागत**, ही आपूर्ति वक्र का आधार है।
- वृद्धिमान सीमांत लागत की अवधारणा ही आपूर्ति के नियम अथवा आपूर्ति वक्र के ऊपर की ओर उठने की प्रवृत्ति का कारण है।
- फर्म का आपूर्ति वक्र वस्तुत: उसके ऊपर उठते हुए सीमांत लागत वक्र का एक अंश ही होता है।
- लागत घटाने वाली तकनीकी (प्रौद्योगिकीय) प्रगति सीमांत लागत वक्र को नीचे धकेल देती है। इसी कारण से आपूर्ति वक्र अपनी स्थिति बदल कर दाहिनी ओर (बाहर की ओर) खिसक जाता है।
- आदानों की कीमतों में वृद्धि सीमांत लागत वक्र को ऊपर उठा देती है। अत: आपूर्ति वक्र बाईं ओर खिसक जाता है।
- उत्पादन शुल्क की दर में वृद्धि आपूर्ति वक्र को बाईं ओर खिसका देती है।
- उत्पादन में प्रतिस्थापक वस्तु की कीमत की वृद्धि वस्तु के आपूर्ति वक्र को बाईं ओर खिसका देती है।
- बाजार आपूर्ति वक्र फर्मों के आपूर्ति वक्रों के क्षैतिज योग से बनता है।
- फर्मों की संख्या में वृद्धि बाजार आपूर्ति वक्र को दाहिनी ओर खिसका देतीं है।
- बाजार काल में किसी भी उत्पादक का निजी आपूर्ति वक्र और बाजार आपूर्ति वक्र दोनों ही ऊर्ध्वाकार होते हैं।
- आपूर्ति की कीमत लोच अपनी कीमत में परिवर्तन के प्रति आपूर्ति की मात्रा की संवेदनशीलता का मापन करती है।
- सरल रेखीय आपूर्ति वक्र द्वारा X-अक्ष का ऋणात्मक पक्ष में जाकर प्रतिच्छेदन आपूर्ति की कीमत लोच के इकाई से अधिक होने का सूचक है। यहाँ आपूर्ति लोचदार है।
- सरल रेखीय आपूर्ति वक्र का X-अक्ष का प्रतिच्छेदन आपूर्ति की लोच के मान के इकाई के कम होने का संकेत देता है (यहाँ आपूर्ति बेलोच होगी)।
- यदि सरल रेखीय आपूर्ति वक्र अक्ष केंद्र से गुजरे तो उसका ढाल कुछ भी हो, उसकी लोच का मान सदा ही एक इकाई के समान होता है।

▶▶▶ अभ्यास ◀◀◀

भाग-1

4.1 उत्पादक के संतुलन का क्या अर्थ है?

4.2 कुल आगम, कीमत और बेची गई मात्रा में क्या संबंध है?

4.3 किसी प्रतियोगी फर्म के लिए कीमत और सीमांत आगम में क्या संबंध होता है?

4.4 किसी प्रतियोगी फर्म के लिए उत्पादक के संतुलन की शर्त क्या होती है?

4.5 एक प्रतियोगी फर्म की अधिकतम लाभ की शर्त क्या होगी?

4.6 सामान्यत: किसी भी फर्म की अधिकतम लाभ की शर्त क्या होती है?

4.7 आपूर्ति के नियम का क्या अर्थ है?

4.8 आपूर्ति की गई मात्रा में परिवर्तन से क्या अभिप्राय है?

4.9 आपूर्ति में परिवर्तन का क्या अर्थ है?

4.10 तकनीकी सुधारों के कारण टेलीविजनों की सीमांत उत्पादन लागत कम हो गई है। इसका टेलीविजनों की आपूर्ति वक्र पर क्या प्रभाव होगा?

4.11 लागत कम करने वाली तकनीकी प्रगति का आपूर्ति वक्र पर क्या प्रभाव होगा?

4.12 आदान कीमत की वृद्धि का आपूर्ति वक्र पर क्या प्रभाव होगा?

4.13 उत्पादन शुल्क दर में वृद्धि का आपूर्ति वक्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

4.14 यदि एक किसान चावल और गेहूँ, दोनों फसलें उगाता हो तो गेहूँ के बाजार भाव में वृद्धि से चावल का आपूर्ति वक्र किस प्रकार प्रभावित होगा?

4.15 'बाजार काल' से क्या तात्पर्य है?

4.16 फर्मों की संख्या में वृद्धि बाजार आपूर्ति वक्र की स्थिति को किस प्रकार परिवर्तित करेगी?

4.17 आपूर्ति की कीमत लोच किस चीज का मान निर्धारण/मापन करती है?

4.18 यदि दो आपूर्ति वक्र एक-दूसरे को काट रहे हों तो किसकी लोच अधिक होगी (प्रतिच्छेदन बिंदु पर)?

4.19 अक्ष केंद्र से गुजर रहे सरल रेखीय आपूर्ति वक्र की माँग की लोच क्या होती है?

भाग-2

4.20 किसी प्रतियोगी फर्म का कुल आगम वक्र अक्ष केंद्र से गुजरने वाली सरल रेखा क्यों बन जाता है?

4.21 बाजार संरचना के निर्धारक कारक कौन से होते हैं?

4.22 पूर्ण प्रतियोगिता के विशेष लक्षण क्या हैं?

4.23 वस्तु/उत्पादन के पूर्णत: समरूप होने का क्या अर्थ है? इसका बाजार में उत्पादकों द्वारा वसूल की जा रही कीमत पर क्या प्रभाव होता है?

4.24 संक्षेप में बताएँ कि एक प्रतियोगी फर्म कीमत स्वीकारक क्यों हो जाती है?

4.25 एक प्रतियोगी फर्म के बाजार में कीमत 15 रुपए है–

(क) इसकी कुल आगम तालिका का निर्माण करें, यदि उत्पादन 0 से 10 इकाई तक हो।

(ख) मान लो कि कीमत 17 रुपए हो जाती है। क्या नए TR वक्र का ढाल पहले वाले से अधिक तीखा होगा या कम?

4.26 यदि वस्तु की प्रत्येक इकाई 5 रुपए में बिक रही हो तो इस तालिका की पूर्ति करें–

बिक्री की मात्रा	TR	MR	AR
1			
2			
3			
4			
5			
6			
7			

4.27 एक फर्म की TR सारणी निम्न तालिका में दर्शाई गई है। फर्म के समक्ष बाजार में वस्तु की कीमत क्या है?

उत्पादन	TR (Rs)
1	7
2	14
3	21
4	28
5	35

4.28 प्रतियोगी फर्म का AR सदा MR के समान क्यों होता है?

4.29 आपूर्ति वक्र को खिसका सकने वाले तीन कारक बताएँ।

4.30 ऐसे दो उदाहरण दें जिनमें तकनीकी प्रगति आपूर्ति वक्र को खिसका देती हो।

4.31 आदान की कीमत का परिवर्तन वस्तु के आपूर्ति वक्र को किस प्रकार प्रभावित करता है? इसका कारण बताएँ।

4.32 किसी उत्पाद शुल्क की दर में परिवर्तन आपूर्ति वक्र को कैसे और क्यों स्थिति परिवर्तित कर देता है?

4.33 लागत में बचत करने वाली प्रौद्योगिकीय प्रगति आपूर्ति वक्र को किस प्रकार प्रभावित करती है, और क्यों?

4.34 एक नई उत्पादन तकनीक अक्षीय इस्पात (Stainless steel) की सीमांत उत्पादन लागत कम कर देती है। इसके बाजार में अक्षीय इस्पात के बर्तनों के आपूर्ति वक्र पर क्या प्रभाव होंगे?

4.35 तटीय प्रदेश में चक्रवात के कारण दूर तक फैले चावल के खेतों में समुद्री पानी भर गया है। इससे भूमि की उत्पादकता कम हो गई है। उस क्षेत्र में चावल के आपूर्ति वक्र पर इस घटना का क्या प्रभाव होगा?

4.36 इस तालिका में दर्ज आलूओं की आपूर्ति की जानकारी पर विचार करें–

कीमत रुपए प्रति किलो	फर्म A (किलो)	फर्म B (किलो)	फर्म C (किलो)	बाजार (किलो)
1	–	20	45	100
2	37	30	50	–
3	40	–	55	135
4	44	50	–	154
5	48	65	60	–

(क) तालिका में सभी फर्मों और बाजार की आलूओं की आपूर्ति के आँकड़ें पूरे भरें।

(ख) एक ही रेखाचित्र में सभी फर्मों के अलग-अलग और बाजार के आपूर्ति वक्र अंकित करें। फर्मों के निजी आपूर्ति वक्रों तथा बाजार आपूर्ति वक्र में आपको क्या संबंध दिखाई देता है?

(ग) कीमत 2 रुपए से 3 रुपए होने पर फर्म A के लिए आपूर्ति की कीमत लोच का आकलन करें।

4.37 सरल रेखीय आपूर्ति वक्र बनाएँ, यदि लोच का मान (क) इकाई हो तथा (ख) शून्य हो।

4.38 निम्न चित्र में 3 वस्तुओं के आपूर्ति वक्र दिखाए गए हैं। इनको कीमत लोच के अनुसार क्रमबद्ध करें।
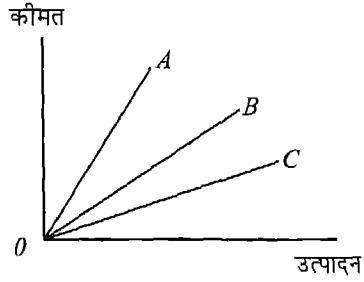
भाग-3

4.39 समझाइए कि सीमांत लागत वक्र का ऊपर उठता हुआ अंश ही प्रतियोगी फर्म का आपूर्ति वक्र होता है।

इकाई-IV

बाजार संरचना के विभिन्न प्रतिमान और कीमत निर्धारण

पूर्ण प्रतियोगिता में कीमत निर्धारण

हमने दूसरे और चौथे अध्यायों में माँग और आपूर्ति वक्रों की पृष्ठभूमि की रचना कर बाजार व्यवस्था के विश्लेषण का **आधार** तैयार कर लिया है। माँग वक्र हमें यह जानकारी देता है कि विभिन्न कीमतों पर उपभोक्ता कितनी खरीदारी करने को उत्सुक होंगे तो आपूर्ति वक्र से हमें यह पता चलता है कि उन कीमतों पर उत्पादक कितनी मात्राएँ बनाकर बेचने को तत्पर हैं। किंतु इन अध्यायों में हम यह नहीं जान पाए कि वास्तव में किस कीमत पर बाजार में लेन-देन होगा। अभी हम यह नहीं जान सके हैं कि उपभोक्ता अपनी माँग वक्रों के किन बिंदुओं पर उपभोग करेंगे और उत्पादक अपने-अपने आपूर्ति वक्रों के किन बिंदुओं पर उत्पादन करेंगे।

इन मुद्दों पर हम वर्तमान अध्याय में विचार प्रारंभ कर रहे हैं। यहाँ हम माँग और आपूर्ति के विषय में अपनी अभी तक की जानकारी को एक साथ लाकर उसमें समन्वय स्थापित करने का प्रयास करेंगे। यही बाजार व्यवस्था की कार्य पद्धति का सार भी है। यहीं विशेष रूप से हम समझ पाते हैं कि कीमत प्रणाली किस प्रकार से अर्थव्यवस्था की सबसे पहली मूलभूत समस्या **क्या उत्पादन करें** का **समाधान** करती है। यहाँ नए विचार, संकल्पनाएँ या याद रखने योग्य परिभाषाएँ नहीं होंगी। सारा बल पुराने विचारों के व्यावहारिक प्रयोग पर रहेगा। हम अपने विचार क्रम और चर्चा को अनेक उदाहरणों के सहारे आगे बढ़ाएँगे।

5.1 बाज़ार संतुलन–कीमत और मात्रा का निर्धारण

चित्र 5.1 पर ध्यान दें। इसमें किसी वस्तु के माँग और आपूर्ति वक्र बनाए गए हैं। इन्हें क्रमशः *DD* तथा *SS* द्वारा इंगित किया

गया है। प्रश्न यह है कि बाजार में कौन-सी कीमत प्रचलित होगी? मान लो कि प्रारंभ में बाजार में उस वस्तु की कीमत P_1 थी। इस कीमत पर उपभोक्ता D_1 मात्रा की माँग कर रहे थे, पर उत्पादक Q_1 की आपूर्ति करने को तैयार थे। स्पष्ट है कि आपूर्ति का माँग से मेल नहीं हो पा रहा था। उपभोक्ता उस मात्रा से कहीं अधिक खरीदना चाहते थे जितना कि उत्पादक बेचने को तैयार होते। अत: बाजार में कुछ **अतिरिक्त माँग** विद्यमान थी। इसे AB या Q_1D_1 द्वारा दिखाया गया है।[1] इस अवस्था में क्या कीमत P_1 स्तर पर ही बनी रह पाएगी? नहीं। माँग की आपूर्ति से अधिकतर खरीदारों में परस्पर स्पर्धा को जन्म दे देगी और यह कीमत को बढ़ाने में **सहायक** हो जाती है। मान लो कि कीमत कुछ ऊपर उठकर P_2 हो जाती है। पर हम देख सकते हैं कि इस कीमत पर भी कुछ अतिरिक्त माँग बनी हुई है, हाँ, यह पहले से कम अवश्य हो गई है। अत: कीमत में फिर कुछ न कुछ वृद्धि होगी। वास्तव में जब तक बाजार में माँग आपूर्ति से अधिक बनी रहेगी कीमत में वृद्धि भी होती ही रहेगी। इसी बात की ओर ध्यान दिलाने के लिए हम चित्र में ऊपर की ओर जाने वाले तीर के चिह्न का प्रयोग कर रहे हैं। अंतत: यह कीमत P_0 स्तर पर पहुँच कर टिक जाती है। वहाँ कोई अतिरिक्त माँग नहीं है।

यदि किसी कारण से शुरू में कीमत P_3 रही होती तो इसके एकदम विपरीत घटनाक्रम चलता। माँग की मात्रा D_3 उस मात्रा Q_3 से कम है जिसकी आपूर्ति करने को हमारे उत्पादक तैयार हैं। अत: **अतिरिक्त आपूर्ति** = Q_3D_3 विद्यमान है। ऐसी दशा में उत्पादकों के बीच ग्राहकों को आकृष्ट करने की स्पर्धा तीव्र हो जाती है। इसके कारण वे कम कीमत पर माल बेचने को तैयार हो जाते हैं। जब तक आपूर्ति का स्तर माँग से अधिक रहेगा, कीमत में गिरावट आती रहेगी। इसी तथ्य की ओर नीचे की ओर संकेत कर रहा तीर का निशान हमारा ध्यान खींच रहा है। अंतत: कीमत कहाँ पहुँच कर गिरना बंद करेगी? उत्तर है P_0। [क्योंकि P_0 कीमत पर अतिरिक्त आपूर्ति शून्य हो जाती है।]

यही शून्य अतिरिक्त माँग और शून्य अतिरिक्त आपूर्ति की स्थिति **बाजार संतुलन** की परिभाषा करती है। दूसरे शब्दों में बाजार में संतुलन उस समय होता है जब माँग और आपूर्ति एक समान हो जाएँ। चित्र 5.1 में इसे E_0 बिंदु द्वारा दिखाया गया है। कीमत P_0 को संतुलन कीमत का नाम दिया जाता है। आपको ध्यान होगा कि संतुलन तो ठहराव की स्थिति होता है। यहाँ भी बाजार कीमत स्तर P_0 पर आकर टिक जाती है, अर्थात यहाँ पहुँचकर कीमत को बढ़ाने या गिराने वाली शक्तियाँ **शांत** हो जाती हैं। उपभोक्ताओं और उत्पादकों के बीच Q_0 मात्रा का विनिमय (लेन-देन) होता है।

इस प्रकार से बाजार में कीमत और मात्रा के स्तरों का निर्धारण होता है।
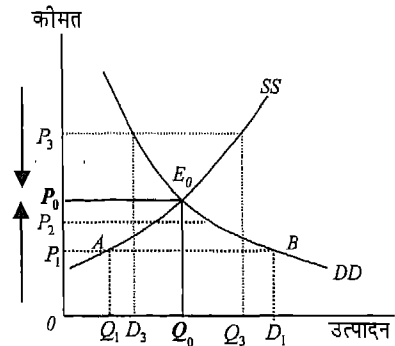
चित्र 5.1 : बाजार का संतुलन

[1] *यहाँ अतिरिक्त माँग किसी वस्तु या सेवा विशेष से ही जुड़ी है। यह विचार समष्टिशास्त्र के 'माँग के आधिक्य' से भिन्न है।*

तालिका 5.1 में हम कुछ आँकड़ों की सहायता से केलों की माँग और आपूर्ति सारणियों की रचना कर रहे हैं। यह माँग तथा आपूर्ति किसी निश्चित भौगोलिक स्थान और समय अवधि के लिए ही मान्य हैं। यहाँ संतुलन कीमत प्रति दर्जन 21 रुपए बनती है क्योंकि यहीं पर माँग की गई मात्रा आपूर्ति के समान होती है। संतुलन की दशा में 6000 दर्जन केलों का क्रय-विक्रय होता है। इस तालिका की जानकारी पर आधारित माँग और आपूर्ति वक्र चित्र 5.2 में दिखाए गए हैं।

तालिका 5.1

माँग एवं आपूर्ति सारणियों तथा संतुलन का एक उदाहरण

केलों की कीमत (रुपए/दर्जन)	माँग की मात्रा (दर्जन)	आपूर्ति की मात्रा (दर्जन)
18	10000	1000
19	8000	2000
20	7000	4000
21	6000	6000
22	5000	7500
23	4500	8500
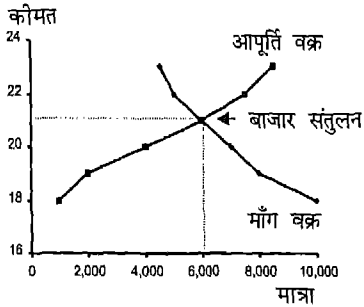
चित्र 5.2 : तालिका 5.1 द्वारा निर्धारित बाजार संतुलन

वैसे कभी-कभी ऐसी संभावनाएँ भी पैदा हो जाती हैं जब किसी भी धनात्मक उत्पादन स्तर पर माँग और आपूर्ति वक्रों का प्रतिच्छेदन नहीं हो पाता। ऐसी ही एक स्थिति को हमने चित्र 5.3 में दिखाया है। इसका क्या अर्थ होगा? वास्तव में इस वस्तु का अर्थव्यवस्था में उत्पादन नहीं हो पाएगा। यह उद्योग इस अर्थव्यवस्था की दृष्टि से आर्थिक रूप से अर्थक्षम (चल सकने योग्य) नहीं है। जिस कीमत पर इसका धनात्मक उत्पादन संभव है वह अर्थव्यवस्था के सदस्य उपभोक्ताओं की पहुँच से बहुत ऊँची है, उपभोक्तागण वह कीमत चुका पाने में समर्थ नहीं हैं। दूसरे शब्दों में वस्तु की उत्पादन लागत इतनी अधिक है कि धनात्मक उत्पादन कर पाना व्यावहारिक नहीं रहता।

भारत और अनेक देशों में व्यापारिक वायुयानों का उद्योग इसी वर्ग में आता है। इनका उत्पादन इन देशों में नहीं किया जाता। वैसे एक देश में अर्थक्षम नहीं माना जाने वाला उद्योग प्रत्येक देश में अव्यावहारिक नहीं होता। किसी अन्य देश में वह उद्योग खूब फल फूल सकता है। उदाहरण के लिए अमेरीका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस में तो व्यापारिक वायुयानों का व्यावसायिक आधार पर खूब उत्पादन होता है।[2]
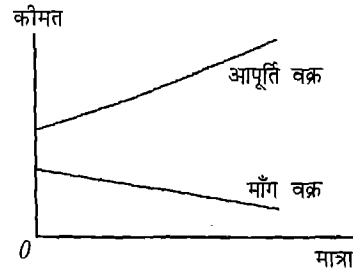
चित्र 5.3 : एक अर्थक्षमताहीन उद्योग

[2] *भारत की दृष्टि से कंप्यूटरों के धारण शक्ति-चिप्स (memory chips), मदर बोर्ड, फोटोकॉपियर आदि उद्योग अर्थक्षम नहीं हैं। इनका आयात होता है–अभी तक देश में उत्पादन नहीं हो पा रहा है।*

चित्र 5.1 तथा 5.3 मिलकर यही समझाते हैं कि कोई अर्थव्यवस्था कीमत प्रणाली के माध्यम से **क्या** की समस्या कैसे सुलझाती है। जिन वस्तुओं और सेवाओं पर चित्र 5.3 लागू होता है, देश उनका उत्पादन नहीं करता। जिन पर चित्र 5.1 लागू होता हो केवल उन्हीं का उत्पादन किया जाता है। यदि किसी वस्तु का उत्पादन अर्थव्यवस्था कर रही हो तो फिर चित्र 5.1 हमें यह भी स्पष्ट बता देगा कि उसकी कितनी मात्रा का उत्पादन होगा और संतुलन की दशा में वह मात्र किस कीमत पर उपभोक्ता वर्ग खरीद लेगा।

5.2 माँग और आपूर्ति वक्रों की स्थिति में परिवर्तन (खिसकाव)

वास्तविक जीवन में समय-समय पर प्रत्येक वस्तु की कीमत और उसकी खरीदी, बेची गई मात्रा में परिवर्तन होते रहते हैं। आप में से कुछ एक ने जरूर अपने घर-परिवार के लिए फल-सब्जियाँ कभी-कभार खरीदी होंगीं सर्दियों में गोभी के फूल, गर्मियों के मौसम की अपेक्षा सस्ते मिल जाते हैं। इसी प्रकार सेब भी किसी मौसम में महँगे होते हैं तो कभी सस्ते। आज जिन विशेषताओं वाला कंप्यूटर आपके शहर में 30000 रुपए में मिल रहा है 6 महीने बाद वही सस्ता हो जाएगा। माँग और आपूर्ति के वक्रों तथा बाजार संतुलन की प्रक्रिया पर विचार से हम उस विश्लेषण पद्धति की रचना कर पाते हैं जो कीमतों और विनिमय की मात्रा में उतार-चढ़ाव की व्याख्या कर सकती है। यह पद्धति मुख्यत: माँग वक्र या आपूर्ति वक्र अथवा दोनों की स्थिति में परिवर्तनों के सहारे कार्य करती है। अध्याय 2 तथा अध्याय 4 में हम इन वक्रों में खिसकाव लाने वाले कारकों के बारे में पहले ही विचार कर चुके हैं। उन्हीं कारकों के परिवर्तन कीमत और मात्रा के परिवर्तनों की व्याख्या करने में सहायक रहते हैं।

आइए स्थिति परिवर्तन के कारणों की तह में जाए बिना ही पहले ये देखने की कोशिश करें कि माँग या आपूर्ति के खिसकने का कीमत और विनिमय की मात्रा पर क्या प्रभाव होता है।
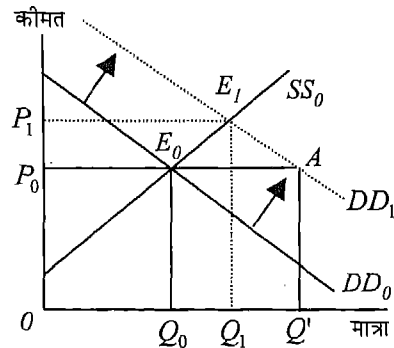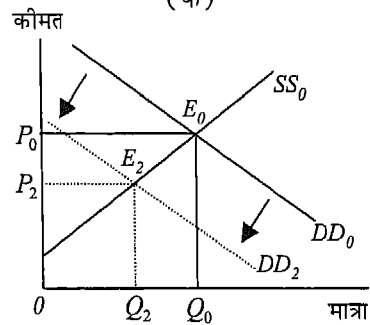
चित्र 5.4 : माँग वक्र का स्थिति परिवर्तन

5.2.1 माँग वक्र की स्थिति में परिवर्तन

चित्र 5.4(क) पर विचार करें। शुरू में माँग का स्तर DD_0 तथा आपूर्ति वक्र SS_0 द्वारा दिखाया गया है। अत: उस समय कीमत P_0 और मात्रा Q_0 थीं। किन्हीं कारणों से माँग वक्र खिसक कर DD_0 स्थिति में पहुँच गया। हम स्पष्टत: देख सकते हैं कि तुरंत संतुलन बिंदु भी E_0 से खिसक कर E_1 हो गया। माँग वक्र की नई स्थिति के अनुरूप कीमत और मात्रा भी P_1 और Q_1 हैं। अत: माँग वक्र दाहिनी ओर खिसकने

से कीमत और बाजार में बिक्री की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इन परिवर्तनों को लाने वाली आर्थिक प्रक्रिया को समझ लेना बहुत ही महत्त्वपूर्ण होगा।

चित्र 5.4 (क) में प्रारंभिक बिंदु E_0 था। वहाँ किसी प्रकार की **अतिरिक्त माँग** या **अतिरिक्त आपूर्ति** नहीं थी। माँग वक्र के DD_1 हो जाने पर P_0 कीमत पर उपभोक्ता A बिंदु पर उपभोग करना चाहते हैं। अत: उपभोग बिंदु DD_1 के E_0 से बदल कर A हो जाता है (A माँग वक्र DD_1 पर अवस्थित बिंदु है), किंतु उत्पादक अभी भी E_0 का ही उत्पादन करना चाहते हैं। अत: बाजार में Q_0Q' के समान अतिरिक्त माँग पैदा हो जाती है। पर इसके कारण उपभोक्ताओं की परस्पर प्रतियोगिता (या होड़) में वृद्धि होती है। परिणाम होता है कीमत में वृद्धि। अत: पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा का उत्पादन प्रारंभ हो जाता है। ध्यान रहे कि यह आपूर्ति की मात्रा में वृद्धि है, इसे आपूर्ति की वृद्धि नहीं कहा जाएगा। अपेक्षाकृत ऊँची कीमत पर उत्पादक अधिक मात्रा का उत्पादन कर उसे बाजार में लाते हैं। इसी से बाजार में अधिक मात्रा का लेन-देन संभव हो पाता है।

इसी प्रकार यदि माँग वक्र **बाईं** ओर खिसक जाए तो संतुलन स्तर की कीमत और मात्रा दोनों में कमी आ जाएगी। इस बात को ही चित्र 5.4(ख) में दिखाया गया है।

(क)

(ख)
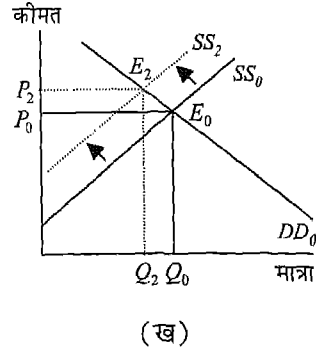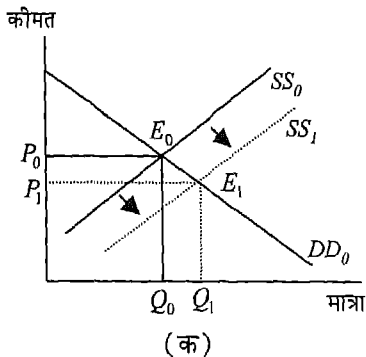
चित्र 5.5 : आपूर्ति परिवर्तन

5.2.2 आपूर्ति वक्र की स्थिति के परिवर्तन

अब चित्र 5.5 में दिखाए गए आपूर्ति वक्र के परिवर्तनों पर विचार करें। भाग (क) में प्रारंभिक आपूर्ति और माँग वक्रों को SS_0 तथा DD_0 द्वारा दिखाया गया है। प्रारंभिक संतुलन बिंदु E_0 पर P_0 कीमत रहती है और बाजार में Q_0 मात्रा का लेन-देन होता है। अब मान लो कि आपूर्ति वक्र किसी कारणवश खिसक कर दाहिनी ओर चला जाता है। उसकी नई स्थिति SS_1 है। फिर तो नया संतुलन E_1 पर स्थापित होगा। नई कीमत P_1 और लेन-देन की मात्रा Q_1 होगी। हम देख रहे हैं कि इस खिसकाव से कीमत में कमी आई है पर मात्रा में वृद्धि हुई है। इसका क्या कारण हो सकता है? यदि कीमत पुराने स्तर P_0 पर बनी रहे तो बाजार में काफी अतिरिक्त आपूर्ति की स्थिति हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप विक्रेता ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित करने के प्रयास तेज़ करते हैं। इसी से कीमत में कुछ कमी होती है। माँग वक्र तो पुरानी स्थिति में ही है। अत: कीमत कम होने से प्रोत्साहित होकर उपभोक्ता (उसी माँग वक्र पर) नीचे की ओर के नए संतुलन बिंदु E_1 की ओर अग्रसर हो जाते हैं। नए संतुलन पर अधिक मात्रा की माँग होती है और उसका उत्पादन भी होता है।

चित्र 5.5 का भाग (ख) इसके विपरीत घटना क्रम दिखा रहा है। आपूर्ति वक्र बाईं ओर खिसकने पर संतुलन कीमत और मात्रा दोनो में ही कमी आ जाती है। हम माँग और आपूर्ति वक्रों के स्थिति परिवर्तन के परिणामों को संक्षिप्त रूप से एक तालिका में दिखा रहे हैं।

तालिका 5.2

माँग और आपूर्ति वक्रों के खिसकने के प्रभाव

1. माँग वक्र के दाहिनी ओर (बाईं ओर) खिसकने से बाजार कीमत और लेन-देन की मात्रा में वृद्धि (कमी) आती है।
2. आपूर्ति वक्र के दाहिनी (बाईं) ओर खिकसने पर बाजार कीमत में कमी (वृद्धि) होती है, किंतु लेन-देन की मात्रा में वृद्धि (कमी) होती है।

5.2.3 माँग और आपूर्ति में एक साथ परिवर्तन

यह भी संभव है कि माँग और आपूर्ति वक्रों में एक साथ खिसकाव आ जाए, इनका कीमत और आपूर्ति की मात्रा पर निवल प्रभाव तालिका 5.2 में बताए गए प्रभावों का समन्वित रूप ही होगा।

उदाहरण के लिए यदि माँग और आपूर्ति दोनों के वक्र दाहिनी ओर खिसक जाएँ तो बाजार कीमत में कमी और वृद्धि दोनों की संभावनाएँ होती हैं, किंतु लेन-देन की मात्रा में निश्चित रूप से वृद्धि ही होगी। दोनों वक्रों के बाईं ओर खिसकने पर परिणाम भी विपरीत होंगे, अर्थात मात्रा में निश्चित रूप से कमी आएगी। कीमत में कमी और वृद्धि दोनों ही संभावित रहती हैं। दोनों ही दशाओं में वक्रों के दाहिनी एवं बाईं ओर एक साथ खिसकने पर कीमत कभी अपरिवर्तित भी रह सकती है पर मात्रा के परिवर्तन निर्विवाद रूप से होंगे।

एक अन्य स्थिति में माँग वक्र दाहिनी ओर तथा आपूर्ति वक्र का खिसकाव बाईं ओर हो सकता है। उस दशा में आपूर्ति की मात्रा तो कम या ज्यादा हो सकती है, किंतु, कीमत की वृद्धि निश्चित रहती है। माँग वक्र के बाईं ओर तथा आपूर्ति वक्र के दाहिनी ओर खिसकने पर कीमत में कमी के बारे में किसी को संदेह नहीं होगा पर मात्रा में कमी से वृद्धि तक सभी संभावनाएँ रहेंगी।

आइए अब हम वापिस माँग और आपूर्ति वक्रों के स्थिति परिवर्तन पर अलग-अलग विचार करने की दिशा में लौट चलते हैं। यहाँ हम इन खिसकावों के कारणों को समझने की चेष्टा करेंगे, साथ ही तालिका 5.2 में संकलित कीमत और मात्रा परिवर्तनों की समीक्षा भी करेंगे।

5.3 माँग वक्र की स्थिति परिवर्तन के स्रोत (कारण)

आपको याद होगा अध्याय 2 में हमने उन कारकों के बारे में चर्चा की थी जिनके कारण से माँग वक्र अपनी स्थिति परिवर्तित कर लेता है। ये कारक हैं– आय में परिवर्तन, अन्य संबद्ध वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन, उपभोक्ताओं की अभिरुचियों में बदलाव तथा बाजार के आकार का प्रसार या संकुचन। आइए, इनके विषय में अब पृथक-पृथक विचार करें।

5.3.1 आय में परिवर्तन

मान लो कि अर्थव्यवस्था की समग्र आय में वृद्धि हो जाती है। अध्याय 2 का विश्लेषण हमें इतनी जानकारी तो दे ही रहा है कि इस आय वृद्धि के फलस्वरूप किसी भी सामान्य वस्तु का माँग वक्र दाहिनी ओर खिसक जाएगा। हमारा चित्र 5.4 (क) इस माँग परिवर्तन के प्रभाव की सहज ही व्याख्या कर सकता है। इस स्थिति में कीमत और मात्रा, दोनों में वृद्धि होगी। आय में कमी आने पर चित्र 5.4 (ख)

प्रासंगिक हो जाता है। बाजार में कीमत तथा विनिमय की मात्रा दोनों में ही गिरावट होगी। आय में कमी के कारण माँग वक्र के बाईं ओर खिसकने का यह स्पष्ट प्रमाण है। अत: हम कह सकते हैं कि **किसी सामान्य वस्तु के संदर्भ में आय में वृद्धि (कमी) के कारण कीमत और विनियम की मात्रा दोनों में ही वृद्धि (कमी) हो जाती है।**

यदि वस्तु सामान्य न होकर निकृष्ट हो तो क्या प्रभाव होगा? इस दशा में हम जानते ही हैं कि आय में वृद्धि के कारण माँग वक्र बाईं ओर खिसक जाता है। अत: इसके प्रभाव की व्याख्या के लिए चित्र 5.4 (ख) पर्याप्त रहता है अर्थात इस अवस्था में कीमत और मात्रा, दोनों में कमी होगी।

उदाहरण 5.1 : केरल प्रांत में अचल संपत्ति का बाजार

भूमि और गृह-खंडों (फ्लैटों) के बाजार के विषय में विचार करें। 1990 के दशक में केरल प्रांत में भी शहरी भूमि की कीमतों और स्वतंत्र मकानों तथा बहु-इकाई गृहों की संख्या में भारी वृद्धि दिखाई पड़ी थी। कोचीन, त्रिचूर, कोट्टायम, चलकुडी और चवक्कड़ नगरों में तो यह प्रवृत्ति विशेष रूप से बहुत बलवती रही। इसका क्या कारण रहा होगा? इस अवधि में इन नगरों या इनके आसपास न तो भारी पैमाने पर औद्योगीकरण का कोई प्रमाण मिला है और न ही इनकी जनसंख्या में कोई विशेष उछाल आया है। वस्तुत: इन शहरों से बड़ी संख्या में नागरिक काम करने के लिए मध्य-पूर्व (पश्चिम एशिया) के देशों में चले गए थे। वहाँ उन्होंने बड़ी अच्छी आमदनी कमाई थी।[3] वहाँ की उस कमाई को वे लोग अपने शहरों में अच्छे और बड़े-बड़े मकान खरीदने/बनवाने पर खर्च कर रहे थे। परिणाम-स्वरूप केरल के शहरी क्षेत्रों में गृहों/गृह खंडों का माँग वक्र दाहिनी ओर बहुत खिसक गया था। कुछ शहरों में तो दो ही वर्षों में भूमि के दाम तीन गुना तक हो गए थे।[4]

उदाहरण 5.2 : 1980 दशक के अंतिम और 1990 दशक के प्रारंभिक वर्षों में जापान

इन वर्षों में जापानी अर्थव्यवस्था में बहुत तीव्र संवृद्धि का दौर चल रहा था। बहुत से उपभोक्ता पदार्थों के जाने-माने ब्रांड इस समय में उस वृद्धिशाली आय को खपाने (खर्च करने) के माध्यम बन गए। **लुई ज़ीन** और **नाइक जूते** उस समय बहुत लोकप्रिय हो गए थे। इनकी कीमतों और बाजार में बिक्री की मात्राओं में उन दिनों भारी वृद्धि देखी गई।[5]

---

[3] *वास्तव में केरल के इन क्षेत्रों से पश्चिम एशिया में इतनी भारी संख्या में लोग जा रहे थे कि तिरुवनंतपुरम हवाई अड्डे से एयर इंडिया विशेष उड़ानों की व्यवस्था में जुड़ी थी। कुल मिलाकर 16 लाख केरलवासी उन देशों में काम कर रहे थे और वे प्रतिवर्ष 700 से 1000 करोड़ रुपए की विदेशी मुद्रा कमा कर स्वदेश भेज रहे थे।*

[4] *यह कथन सोनाली मजूमदार के* ***टॅच डाउन इंडिया*** नामक प्रत्रिका में प्रकाशित लेख "हाइराइज हंगामा" से उद्धृत हैं।

[5] *देखिए–विलियम बॉमोल और अलान लाइंडर, इकोनॉमिक्स : प्रिंसिपल्स एंड पॉलिसीज 8वाँ संस्करण, हार्कोर्ट कॉलेज पब्लिशर्ज, 200, पृष्ठ 80। अन्य संदर्भ जेटरो (जापान एकसहर्नल ट्रेड ऑर्गेनाइजेशन) "द जापीनीज कंज्यूमर : फ्रॉम बूम टू रीयल्टी", 1994, http:/www.jetro.go.jp/it/e/pub.*

5.3.2 उपभोग में संबद्ध वस्तु की कीमत में परिवर्तन

चाय के बाजार का ही उदाहरण लें। मान लो किसी कारणवश कॉफी की बाजार कीमत बढ़ जाती है। माँग वक्रों के खिसकने संबंधी हमारे अध्याय 2 के विचारों से यह तो स्पष्ट है कि चाय-कॉफी में प्रतिस्थापक होने का गुण है। अत: कॉफी महँगी होने पर चाय का माँग वक्र बाहर की ओर खिसक जाएगा। यह एक बार फिर चित्र 5.4 (क) के विश्लेषण को उपयोगी बना देता है। इससे हमें जानकारी मिल रही है कि इसके कारण चाय की कीमत में वृद्धि होगी, इसकी पहले से अधिक मात्रा की खरीदारी भी होगी। अत: हमारा निष्कर्ष होगा–**किसी प्रतिस्थापक की कीमत में वृद्धि के कारण वस्तु की कीमत और विनिमय की गई मात्रा में वृद्धि हो जाती है।**

चाय और कॉफी में प्रतिस्थापन का नाता है किंतु इसके विपरीत चाय का चीनी के साथ प्रतिपूरकता का संबंध है। अगर चाय महँगी हो जाए तो क्या होगा? इसका चीनी के बाजार पर क्या प्रभाव पड़ेगा? पुन: अध्याय 2 का विश्लेषण हमें संकेत दिखाता है–चीनी का माँग वक्र बाईं ओर खिसक जाएगा। यह स्थिति हमारे चित्र 5.4(ख) से मेल खाती है, अर्थात, चीनी की कीमत और इसकी खरीदी गई मात्रा, दोनों में कमी आ जाएगी। अत: हम कह सकते हैं–किसी प्रतिपूरक की कीमत बढ़ने से वस्तु कीमत गिर जाती है और उसकी पहले से कम मात्रा का लेन-देन होता है।

उदाहरण 5.3 : 1990 के दशक के उत्तरार्द्ध में विश्व बाजारों में चाय व कॉफी की कीमतें

ब्राज़ील विश्व में कॉफी का बहुत बड़ा विक्रेता है। 1994 में दो बार इस देश में बड़े व्यापक स्तर पर पाला पड़ने की घटनाओं ने इसके आधे से अधिक कॉफी वृक्षों को खराब कर डाला। परिणामस्वरूप विश्व बाजार में ब्राज़ील की कॉफी के दाम बहुत उछल गए। ये कई वर्ष तक उच्चस्तर पर बने रहे। दो वर्षों के अंतराल के बाद चाय के उत्पादन में निरंतर वृद्धि के प्रमाणों के बाद भी इसकी कीमतें आकाश की ओर ताकने लगीं। इसकी हम कॉफी के महँगे होने से चाय की माँग में विलंबित वृद्धि के उदाहरण के रूप में व्याख्या कर सकते हैं।[6]

5.3.3 अभिरुचियों में परिवर्तन

आइए अब करेले के बाजार में चलें।[7] मुझे ये तो आभास है कि विद्यार्थियों के आयु-वर्ग में यह बहुत

---

[6] *1993 में न्यूयार्क के थोक बाजार में ब्राज़ीली कॉफी के दाम 66.58 सैंट प्रति पौंड थे जो कि बढ़कर 1994 में $ 1.43 हो गए। ये दुगुने से अधिक होना है। अगले चार वर्षों, 1995, 1996 और 1998 में भी ये ऊँचे स्तर पर ही रहे क्रमश: $ 1.46, $ 1.42, $ 1.22। इसी अवधि में लंदन के नीलाम गृहों में चाय के दाम प्रति पौंड ये रहे–84.20 सैंट, 83.15 सैंट, 74.46 सैंट, 80.34 सैंट, $ 1.08 तथा $ 1.08 संबंधित वर्ष क्रमश: 1993, 1994, 1997 और 1998 थे। ध्यान देने की बात है कि चाय की कीमतें 1997 और 1998 में सबसे अधिक रहीं। हमारे पास यह भी जानकारी उपलब्ध है कि 1997 का विश्व का चाय का उत्पादन 1996 से 2% अधिक था और 1998 में तो उत्पादन 1997 में 11% अधिक हो गया था।*

इन आँकड़ों के स्रोत इस प्रकार हैं–चाय और कॉफी की कीमतें 'इन्टरनेशनल फाइनेन्सियल स्टेटिस्टिक्स', इयर बुक, 2000, अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष।

चाय का उत्पादन–यू.के. चाय परिषद की वेबसाइट–http://www.teacouncil.co.uk.

[7] यह सब्जी भारत के प्राय: सभी भागों में होती है। उड़िया में इसे कालारा तो तमिल में पवक्कई कहते हैं।

लोकप्रिय सब्जी नहीं होगी। पर अगर आप को चिकित्साशास्त्री यह बता दें कि प्रतिदिन 100 ग्राम करेला खाने से चेहरे पर मुंहासों की समस्या से छुटकारा मिल जाता है, तो क्या आपके करेले के प्रति विचारों की कड़वाहट कुछ कम नहीं हो जाएगी? निश्चित रूप से आपकी खान-पान की आदतों में कुछ बदलाव आएगा।[8] आप में से अनेक पहले की अपेक्षा अधिक करेला खाने को तैयार हो जाएँगे। बाजार में करेले का माँग वक्र दाहिनी ओर खिसक जाएगा। एक बार फिर हमारा चित्र 5.4(क) हमें कीमत और मात्रा पर प्रभाव की समीक्षा में सहायता देने को प्रस्तुत है। अर्थात, करेले की कीमत और इसके उत्पादन व उपभोग में वृद्धि होगी।

इसी तरह से किसी वस्तु के प्रति अभिरुचियों का शिथिल पड़ना उपर्युक्त उदाहरण के एकदम विपरीत प्रभाव दिखाएगा। अत: अभिरुचियों में सकारात्मक (नकारात्मक) परिवर्तन से वस्तु की कीमत और विनिमय मात्रा में वृद्धि (कमी) आती है।

उदाहरण 5.4 : हवाई यात्रा का बाजार

हवाई यात्रा की बात लें। 11 सितंबर, 2001 के दिन अमेरीका में आतंकवादियों के हमलों के बाद अनेक व्यक्तियों के मन में हवाई यात्रा को लेकर भय समा गया। इसे भय के कारण हवाई यात्रा के प्रति अभिरुचियों में नकारात्मक परिवर्तन कहा जा सकता है। इसके प्रभाव स्वरूप हवाई यात्रा का माँग वक्र बाईं ओर खिसक जाएगा। हवाई यात्रा टिकटों के दाम कम होंगे, कम व्यक्ति हवाई जहाजों में उड़ान भरेंगे। वास्तव में ऐसा हुआ भी। उस घटना के तुरंत बाद अमेरिका की आंतरिक उड़ानों की टिकटों के दामों में भारी कमी देखने में आई। हवाई सवारियों की संख्या में गिरावट तो और भी व्यापक थी। कितनी ही विमानन कंपनियों को अपने व्यवसाय में भारी पैमाने पर कटौती करनी पड़ी (कई बड़ी-बड़ी कंपनियों का तो इस व्यावसायिक कटौती ने दीवाला ही निकाल दिया)।

5.3.4 बाजार के आकार में परिवर्तन

अब तो आप तत्काल अनुभव करेंगे कि कीमत और मात्रा पर इस परिवर्तन के क्या प्रभाव होंगे। **जनसंख्या के आकार में वृद्धि माँग वक्र को दाहिनी ओर ले जाएगा तो जनसंख्या की कमी से यह वक्र बाईं ओर खिसक जाएगा।** परिणामस्वरूप कीमत में क्रमश: वृद्धि अथवा कमी दिखाई देगी।

उदाहरण 5.5 : 1980 के दशक में दिल्ली में भूमि कीमतों में वृद्धि

1970 के दशक की तुलना में अस्सी के दशक में दिल्ली में जमीनें बहुत महँगी हो गई थीं। इसका एक बड़ा कारण तो पंजाब प्रांत में अस्थिरतापूर्ण परिस्थितियों के कारण भारी संख्या में लोगों का पंजाब से पलायन कर दिल्ली आना ही था। एक अनुमान के अनुसार इसके परिणाम-स्वरूप दिल्ली के भूमि बाजार का विस्तार हो गया और इसने दिल्ली में भूमि की कीमतों में भारी वृद्धि का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

---

[8] *ध्यान रहे कि अभिरुचियों के परिवर्तन का अर्थ मुँह के स्वाद या जायके का परिवर्तन मात्र नहीं है, करेला कड़वा तो फिर भी रहेगा। यह वस्तुत: कीमत और आयत के अतिरिक्त अन्य कारणों से माँग की वृद्धि का सूचक है।*

उदाहरण 5.6 : वैनकुंअर कनाड़ा में आवासों की कीमतों में वृद्धि–1990-95

इस पाँच वर्ष की अवधि में कनाड़ा के इस शहर में मकानों की औसत कीमतें 2.2 लाख कनाडियन डॉलर से बढ़कर 3.08 लाख डालर तक पहुँच गईं। इसका सबसे बड़ा कारण था एशियाई देशों से वैनकुंअर में बड़ी भारी संख्या में लोगों का आगमन। हाँगकांग से आने वालों की संख्या तो सर्वाधिक थी। ब्रिटेन द्वारा हाँगकांग को चीन को सौंपे जाने की संभावना के कारण वहाँ के अनेक नागरिक भविष्य के प्रति आशंकित हो अपना घर-बार, व्यापार बेच कर कहीं और बसने को चल पड़े थे। उनमें से कुछ संयुक्त राज्य अमेरीका गए तो कुछ कनाडा। धनी तो वे प्राय: सभी थे। कनाड़ा आने वाले हाँगकांग वासियों में से अधिकतर ने वैनकुंअर को अपना निवास बनाने के लिए चुना।[9] इन्हीं की माँग के कारण 1990-95 की अवधि में मकानों की कीमतों में भारी उछाल आ गया था।[10]

5.4 आपूर्ति स्थिति परिवर्तन (खिसकन) के प्रभाव

अध्याय 4 में कुछ ऐसे कारकों की बात उठाई गई थी जिनके कारण से किसी फर्म का आपूर्ति वक्र अपनी पुरानी स्थिति से विचलित हो सकता है। इस विचलन के परिणामस्वरूप बाजार आपूर्ति वक्र का स्थान भी बदल जाता है। ये कारक थे–तकनीकी प्रगति, आदानों/साधनों की कीमतों में परिवर्तन, उत्पादन शुल्क दरों में बदलाव और उत्पादन प्रक्रिया की दृष्टि से संबद्ध वस्तुओं की कीमतों के परिवर्तन। इनके साथ ही फर्मों की संख्या में परिवर्तन निजी आपूर्ति वक्रों के अपरिवर्तित रहते हुए भी बाजार आपूर्ति वक्र का स्थान परिवर्तित कर सकता है।

5.4.1 तकनीकी प्रगति

तकनीकी प्रगति के परिणामस्वरूप भी आपूर्ति वक्र दाहिनी ओर खिसक जाता है। चित्र 5.5 (क) का विश्लेषण क्रम इसके प्रभावों की पूरी व्याख्या कर देता है। इसके कारण कीमतें कम होती हैं तथा उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है।

उदाहरण 5.7 : लघु कंप्यूटरों की केंद्रीय विधायन इकाइयाँ (CPUs)

आज तकनीकी प्रगति की रफ्तार का इससे अच्छा उदाहरण नहीं मिल पाएगा। आप जानते ही हैं कि प्रत्येक कंप्यूटर की केंद्रीय विधायन इकाई ही उसके मस्तिष्क का कार्य करती है। कंप्यूटर के भीतर लगी यह इकाई आकार में मुश्किल से 1.5 वर्ग इंच की होती है। इसकी अपनी विधायन दर (मस्तिष्क के कार्य करने की दर की भांति ही) मैगाहर्ट्ज़ में मापी जाती है।[11] पिछले कुछ दशकों में कंप्यूटर CPU के उत्पादन में आश्चर्यजनक तकनीकी प्रगति हुई है। परिणामस्वरूप इनकी कीमतें भी बड़ी तेज़ी से लुढ़कती रही हैं। तकनीकी प्रगति इतनी तेज़ी से हो रही है कि बाजार में आने के 6-7 वर्ष के

---

[9] *विदेशियों का आव्रजन इन वर्षों में वैनकुंअर की जनसंख्या वृद्धि के 79% अंश के लिए उत्तरदायी था।*

[10] *इस जानकारी का स्रोत है–डेविडली और जूडिथ टट्चनर, इम्मिग्रेशन एंड मैट्रोपॉलिटन हाऊस प्राइसिज़ इन कनाडा, रिसर्च ऑन इम्मिग्रेशन एंड इंटग्रेशन इन द मैट्रोपोली वर्किंग पेपर सीरीज, वैनकुंअर सैंटर ऑफ एक्सेलेन्स, मार्च 1999।*

[11] *इस पुस्तक की रचना करते समय मेरी मेज पर रखे कंप्यूटर में 550 मैगाहर्ट्ज़ की दर से कार्य कर सकने वाली केंद्रीय विधायन इकाई लगी थी।*

भीतर ही ये केंद्रीय विधायन इकाइयाँ इस तरह से पुरानी पड़ जाती हैं कि कोई इन्हें हाथ नहीं लगाना चाहता। रही बात कीमतों की, तो इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा कि वर्ष 2000 में जो 550 MHz का CPU 14000 रुपए में बिक रहा था, उसकी कीमत 2001 में 9000 रुपए से कम हो गई। ◢

5.4.2 आदानों की कीमतों में परिवर्तन

अध्याय 4 से आपको यह तो समझ आ ही गया होगा कि आदानों की कीमतों में वृद्धि होने पर वस्तु का आपूर्ति वक्र बाईं ओर तथा कमी होने पर दाहिनी ओर खिसक जाता है। **अतः चित्र 5.5 (क) तथा (ख) के अनुरूप वस्तु की कीमत में वृद्धि या कमी तथा उत्पादन और विक्रय में वृद्धि या कमी आ सकती है।** आदान कीमतों में वृद्धि से वस्तु की आपूर्ति में कमी और आदान कीमतों में कमी से वस्तु की आपूर्ति में वृद्धि होती है।

उदाहरण 5.8 : व्यक्तिगत कंप्यूटर

◤ आप सभी इस बात से परिचित हैं कि आजकल कंप्यूटर सैटों (कंप्यूटर, मॉनीटर और मुद्रक) की कीमत बहुत तेज़ी से कम हो रही है (चाहे उनका रचना विन्यास (configuration) कुछ भी हो। इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि इनके निर्माण में लगे पुर्जों आदि की कीमत बहुत तेजी से कम हो रही है। केंद्रीय विधायन इकाई (CPU) के बारे तो हमने उदाहरण 5.7 में ही बातचीत की थी। कंप्यूटरों के अन्य पुर्जे अथवा घटक आदि भी सस्ते होते जा रहे हैं। वर्ष 2000 में एक 15" का रंगीन मॉनीटर 8400 रुपए में मिल जाता था, वर्ष 2001 आते-आते इसकी कीमत घटकर 7000 रुपए ही रह गई थी। ◢

एक बात की ओर अवश्य ध्यान दें कि उदाहरण 5.7 में तकनीकी की प्रगति के कारण आदानों की कीमतें गिरने की बात आई थी पर उदाहरण 5.8 में आदान सस्ते होने के कारण उत्पादित वस्तु (कंप्यूटर) के सस्ते हो जाने की बात की गई है।

उदाहरण 5.9 : भारत में इंटरनेट जलपान-गृहों की सेवा दरें

◤ आजकल तो इंटरनेट सुविधा प्रदान करने वाले जलपान-गृहों की पैठ देश के हजारों छोटे कस्बों और शहरों में हो गई है। वर्ष 2000 में दिल्ली में ऐसे किसी केंद्र पर इंटरनेट सेवाओं का लाभ उठाने पर प्रति घंटा 50 रुपए देने पड़ते थे। 2002 के आते-आते ये दर घटकर आधी से कम (25 रुपए प्रति घंटा या कम) रह गई हैं।[12] इसका मुख्य कारण भी आदानों की कीमतों में गिरावट रही है। एक तो कंप्यूटरों के दाम कम हो रहे हैं, दूसरे, विदेश संचार निगम आदि इंटरनेट सेवा प्रदायकों द्वारा इन जलपान गृहों से नेट सर्विस के लिए ली गई दरें भी कम हो रही हैं। यही नहीं, अब तो जलपान गृह को इंटरनेट सेवा प्रदायक केंद्र तक टेलीफोन के स्थान पर सीधे तारों (केबल लाइन्स) द्वारा जोड़ा जा रहा है जिससे 24 घंटे व्यवधान-मुक्त संपर्क बना रहता है (टेलीफोन का मीटर भी नहीं चलता)। ◢

5.4.3 उत्पादन शुल्क में परिवर्तन

अध्याय 4 में हमने उत्पादन शुल्क दर में वृद्धि (कमी) के कारण आपूर्ति वक्र के बाईं (दाहिनी) ओर खिसकने की बात की थी। अतः अब हम सीधे ही चित्र 5.5 के दोनों भागों का प्रयोग कर यह समझ सकते हैं कि उत्पादन शुल्क दर में वृद्धि (कमी) के फलस्वरूप वस्तु की कीमतों में (कमी) आएगी और मात्रा में कमी (वृद्धि) आ जाएगी।

[12] *ये दरें वर्तमान लेखक के अपने अनुभव पर आधारित हैं।*

उदाहरण 5.10 : सौंदर्य प्रसाधन–तेल साबुन आदि वर्ष 2002

केंद्र सरकार ने वर्ष 2002-03 के अपने बजट में इन वस्तुओं पर लगने वाला उत्पादन शुल्क पूरी तरह से समाप्त करने का निर्णय ले लिया था। परिणामस्वरूप हिन्दुस्तान लीवर, गोदरेज और प्रोक्टर एंड गैम्बल आदि बड़ी-बड़ी कंपनियों ने अपने इन उत्पाद के दामों में कुछ कमी की घोषणाएँ कर दीं। जहाँ हिन्दुस्तान लीवर ने प्राय: सभी उत्पाद सस्ते किए (क्लीनिक और सनसिल्क शैम्पू सहित) वही पोंड्स ने त्वचा पर लगने वाली क्रीमों और पाउडर के दाम गिराए तो लैक्मे ने सौंदर्य सज्जा उत्पाद के।

5.4.4 उत्पादन में प्रतिस्थापकों की कीमतों में वृद्धि

अध्याय 4 में हमने गेहूँ और चावल के उत्पादन का उदाहरण लेकर एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन का दूसरी के उत्पादन पर प्रभाव समझने का प्रयास किया था। हमने पाया था कि ऐसे किसी प्रतिस्थापक की कीमत में वृद्धि के परिणामस्वरूप वस्तु का आपूर्ति वक्र बाईं ओर खिसक जाएगा। चित्र 5.5 का प्रयोग कर हम अपने उसी निष्कर्ष को और पक्का कर सकते हैं–**उत्पादन की दृष्टि से प्रतिस्थापक वस्तु की बाजार कीमत में वृद्धि (कमी) के कारण आलोच्य वस्तु की कीमत में वृद्धि (कमी) तथा मात्रा में कमी (वृद्धि) हो जाती है।**

5.4.5 फर्मों की संख्या

यदि फर्मों के अपने आपूर्ति वक्र अपरिवर्तित रहें तो भी बाजार आपूर्ति में बदलाव आ सकते हैं–बाजार में भागीदार फर्मों की संख्या बदल सकती है। हम जानते ही हैं कि इस संख्या में वृद्धि के कारण स्पर्धा में वृद्धि होती है और बाजार आपूर्ति वक्र दाहिनी ओर खिसक जाता हैं। फर्मों की सख्या में कमी का स्पर्धा के स्वरूप और बाजार आपूर्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अत: हम एक बार फिर चित्र 5.5 के भाग (क) और (ख) के सहारे फर्मों की संख्या में परिवर्तन के कारण स्पर्धा वृद्धि (कमी) के प्रभाव स्वरूप कीमत में कमी, मात्रा में वृद्धि (कीमत में वृद्धि, मात्रा में कमी) जैसे निष्कर्ष पर पहुँचने में सफल रहते हैं।

उदाहरण 5.11 : मोबाइल फोन दरें (कोशीय चल फोन दरें)

भारत के चार बड़े महानगरों में 1990 के दशक में कोशीय चल दूरभाष सेवा (Cellular Mobile Phone Service) का शुभारंभ हुआ था। दिल्ली में शुरू में दो कंपनियाँ इस कार्य में जुटी थीं– एयरटेल और ऐस्सार। चल फोन से किए गए फोन की दर 15 रुपए प्रति मिनट से कम नहीं थी। अगस्त 2002 से महानगर टेलीफोन निगम भी इस क्षेत्र में आ गया है। ऐस्सार को हच ने अधिग्रहित कर लिया है। अब तक इन सेवाओं में फोन करने की दर घटकर बहुत कम रह गई हैं। यही नहीं अब इन पर आने वाली फोन कॉल के लिए कोई भुगतान नहीं करना होता। दो नई कंपनियाँ टाटा-बिरला-ए.टी. एण्ड टी. तथा रिलायंस भी इस बाजार में उतर आई हैं। यद्यपि मोबाइल फोन सेवा का बाजार पूर्ण प्रतियोगी नहीं है, इसमें कुछ ही कंपनियाँ काम कर रही हैं, किंतु नई कंपनियों का बाजार में आगमन फोन की दरों को कम करने में बहुत सहायक हो रहा है।

5.4.6 अन्य कारक

मौसम, चक्रवात और बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाएँ (जो कि प्रकृति की शक्तियों की उठापटक का नतीजा होती हैं) भी किसी वस्तु के उत्पादन और

आपूर्ति पर गहरा प्रभाव डाल सकती हैं। उदाहरण के लिए भारत में अभी भी कृषि उत्पादन में वर्ष-दर-वर्ष उतार-चढ़ाव आंशिक रूप से मानसून पर निर्भर रहते हैं। इसी के कीमत प्रभाव का एक विशेष उदाहरण इस प्रकार है।

उदाहरण 5.12 : वर्ष 1998 की कुख्यात प्याज़ कीमतों की वृद्धि

वर्ष 1998 के अक्तूबर-नवंबर महीनों में अचानक भारत में प्याज़ की कीमतें 6 से 10 गुना तक बढ़ गईं। यह एक आम प्रयोग की सब्ज़ी है जिसका अधिकांश घरों में प्रयोग होता है। परिणामत: कीमतों में यह (वृद्धि) राजनीतिक दृष्टि से बहुत ही संवेदनशील मुद्दा बन गई। इस प्रत्याशित एवं अभूतपूर्व प्याज कीमत वृद्धि का कारण था भारत के अनेक प्याज की खेती करने वाले क्षेत्रों में भारी वर्षा और बाढ़ आ जाने से इसकी फसलों को नुकसान। इसी के कारण देश में अचानक प्याज की आपूर्ति बहुत कम रह गई थी।

5.5 अकालों की आधारभूत रचना—माँग आपूर्ति विश्लेषण का एक अनुप्रयोग

माँग और आपूर्ति विश्लेषण केवल अर्थशास्त्र की पुस्तकों में कुछ वक्रों के साथ खिलवाड़ और उनके बहाने शब्द-जाल की रचना ही नहीं है। इनके माध्यम से मिलने वाली सूझ-बूझ का कार्य वितान बहुत विस्तृत है और इनके निष्कर्षों में समाज के अनेक घटनाक्रमों की बहुत सटीक, सूक्ष्म और गहन व्याख्या संभव हो जाती है। ये केवल चाय, कॉफी या कंप्यूटरों जैसी चीज़ों के बाजार की व्याख्या तक सीमित नहीं रह जाते। इनके प्रयोग द्वारा हम अनेक जटिल सामाजिक, आर्थिक मुद्दों पर भी विचार-विमर्श कर सकते हैं। इस खंड में हम माँग-आपूर्ति के प्रतिमान का प्रयोग कर यह जानने का प्रयास करेंगे कि किसी देश में अकाल जैसी भीषण सामाजिक त्रासदी क्यों पैदा हो जाती है।

एक अकाल का सबसे दुखद पहलू भूख और महामारियों के कारण समाज में व्यापक स्तर पर मृत्यु का ताण्डव होता है।[13] वस्तुत: दीर्घ अवधि तक व्यापक भुखमरी के कारण ही महामारियाँ भी जन्म लेती हैं। इस दृष्टि से अकाल को भूख के व्यापक एवं भयावह प्रभाव का जनक माना जा सकता है। यह भूख सामान्यत: प्रभावित क्षेत्र के लोगों के उनकी सामान्य खाद्य-सामग्री से वंचित रह जाने के कारण पैदा होती है। दूसरे शब्दों में, विश्लेषणात्मक प्रश्न यही होता है कि किसी क्षेत्र की जनसंख्या का कितना विशाल अंश अपने आप को जीवित रखने के लिए अपनी सामान्य खाद्य-सामग्री खरीद पाने में असमर्थ होकर रह गया।

वैसे तो सामान्यत: लोग यही मानते रहे हैं कि यह समस्या कुल उपलब्धता में गिरावट की समस्या है। कुल उपलब्धता को हम तात्कालिक उत्पादन और सरकारी, गैर-सरकारी गोदामों में जमा भंडार के योगफल के रूप में परिभाषित करते हैं। प्राकृतिक आपदाओं और अत्यावश्यक महीनों में मौसम की खराबी के कारण किसी क्षेत्र की मुख्य खाद्य फसलें बर्बाद होने से वहाँ खाद्य-पदार्थों की भारी कमी हो जाती है। परिणामस्वरूप उस क्षेत्र की जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा जीवन निर्वाह के लिए न्यूनतम आवश्यक सामग्री पाने से भी वंचित रह जाता है। इसी के कारण व्यापक भुखमरी का जन्म होता है। एशियाई

[13] *वर्ष 1943 के बंगाल के अकाल में, जिसे 20वीं शताब्दी के भीषणतम अकालों में गिना जाता है, कम से कम 16 लाख लोगों की मृत्यु हो गई थी।*

क्षेत्र से अभी तक एक मात्र नोबेल पुरस्कार से सम्मानित अर्थशास्त्री, प्रोफेसर अमर्त्य सेन (भारत) ने इसे **खाद्य उपलब्धता अपकर्ष (Food Availability Decline) सिद्धांत** का नाम दिया है।

हम अगले दो-एक पृष्ठों में माँग-आपूर्ति विश्लेषण के माध्यम से खाद्य उपलब्धता अपकर्ष सिद्धांत को समझाने का प्रयास करेंगे। प्रोफेसर सेन का अकाल संबंधित सिद्धांत इससे भिन्न है। जो पाठक उनके सिद्धांत की माँग आपूर्ति व्याख्या जानने के इच्छुक हों वे परिशिष्ट 3 को अवश्य ध्यान से पढ़ें।[14] क्लिप 5.1 में प्रो. अमर्त्य सेन का संक्षिप्त जीवन-परिचय भी दे रहे हैं।[15]

क्लिप 5.1

अमर्त्य सेन (परीक्षा अनुपयोगी)

अब तो देश में सभी लोग अमर्त्य सेन के नाम से परिचित हैं। इनका जन्म 1933 में शान्ति निकेतन में हुआ था। कलकत्ता विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त करने के बाद इन्होंने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पी.एचडी. की उपाधि 1959 में प्राप्त की। ये उस समय से देश-विदेश के अनेक प्रख्यात संस्थानों में अर्थशास्त्र के आचार्य रह चुके हैं। इनमें प्रमुख हैं–दिल्ली स्कूल ऑफ इक्नॉमिक्स, लंदन स्कूल ऑफ इक्नॉमिक्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी और हार्वर्ड यूनिवर्सिटी। आजकल वे कैंब्रिज युनिवर्सिटी के ट्रिनिटी कॉलेज के **मास्टर** के पद पर कार्य कर रहे हैं। विश्व भर के 40 से अधिक विश्वविद्यालय उन्हें **मानद डॉक्ट्रेट** की उपाधियों से अलंकृत कर चुके हैं। हमारे देश ने भी उन्हें उच्चतम नागरिक सम्मान, **भारत रत्न** से अलंकृत किया है।

अमर्त्य सेन

उन्होंने अनेक पुस्तकों और लेखों की रचना की है। इन रचनाओं में अर्थशास्त्र के अनेक आयामों पर उन्होंने लिखा है। वैसे क्षेम अर्थशास्त्र (Welfare economics) और दर्शन पर उनकी रचनाएँ बहुत जानी मानी रही हैं।

वर्ष 1998 में सेन साहब को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित करते हुए स्वीडन की रॉयल ऐकेडमी ऑफ साइंसिज ने अपने प्रशस्ति-पत्र में लिखा है–इन्होंने क्षेम अर्थशास्त्र की मूलभूत समस्याओं के विषय में शोध के माध्यम से अनेक महत्त्वपूर्ण योगदान दिए हैं। इनके (बौद्धिक) योगदानों का प्रसरण सामाजिक चयन के तर्काश्रित सिद्धांत (के निरूपण), आर्थिक क्षेम की परिभाषा (के स्पष्टीकरण) और गरीबी के मानक सूचकों (की रचना) से लेकर अकालों के (आँकड़ों पर आधारित) तथ्यात्मक विवेचन तक विस्तीर्ण रहा है।

---

[14] *खाद्य उपलब्धता अपकर्ष सिद्धांत और प्रो. सेन के अपने सिद्धांतों से जुड़ी यहाँ प्रस्तुत सामग्री सेन साहब की लिखित पुस्तक गरीबी और अकाल, 1981 में मूलत: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित (अब हिंदी में भी उपलब्ध, प्रकाशक–राजपाल एंड संस) से ली गई है। इन दोनों सिद्धांतों की माँग आपूर्ति व्याख्या आपकी इस पाठ्यपुस्तक के लेखक के अपने सर्वाधिकार की रचना : थ्योरीज़ ऑफ फैमीन : एन एक्सपोज़ीशन पर आधारित है। यह रचना भारतीय सांख्यिकी संस्थान द्वारा अप्रैल 2002 में प्रकाशित की गई है।*

[15] *यहाँ हमने सेन साहब का यह जीवन वृत्त आपको भी आगे चलकर अर्थशास्त्र का अध्ययन कर संभवत: नोबेल पुरस्कार पर देश का नाम उज्जवल करने की प्रेरणा देने के लिए लिखी है।*

5.5.1 खाद्य उपलब्धता अपकर्ष सिद्धांत

मान लीजिए कि संबद्ध क्षेत्र की जनता का मुख्य आहार चावल है। अब चित्र 5.6 पर ध्यान दें। इसमें चावल के लिए वैयक्तिक और बाजार माँग वक्र दिए गए हैं। साथ ही इसका बाजार आपूर्ति वक्र भी दिखाया गया है। तीन परिवार A, B और C बाजार में खरीदार हैं। इनके माँग वक्रों को चित्र के भाग (क), (ख) और (ग) द्वारा इंगित किया गया है। B वर्ग के परिवार की माँग वक्र A वर्ग के दाईं ओर है तथा C के परिवार के वक्रों से भी परे है। इनकी एक अन्य व्याख्या करते समय A को सबसे **गरीब** तथा C वर्ग के परिवार को सबसे **धनी** माना जा सकता है। चावल की कीमत P_1 होने पर A वर्ग का परिवार उसकी खरीदारी कर पाने में असमर्थ रहता है, किंतु B तथा C वर्ग के लोग उसके खरीदार उपभोक्ता बने रहते हैं। ध्यान दें यह कीमत स्तर a-बिंदु से उच्चतर है (इस बिंदु पर A का माँग वक्र कीमत अक्ष को काट रहा है)। अत: यहाँ इस परिवार की माँग शून्य रहती है। पर यह बात B और C परिवारों पर लागू नहीं होती। वे क्रमशः B_1 और C_1 मात्रा में खरीदारी करते रहते हैं। कीमत में वृद्धि होकर P_2 हो जाने पर तो B परिवार भी बाजार से बाहर हो जाता है, केवल C वर्ग ही खरीदारी कर पाता है। उसकी खरीदारी C_2 रहती है।[16] चित्र के भाग (घ) में हम बाजार माँग वक्र दिखा रहे हैं (DD_M)। यह तीनों परिवारों के माँग वक्रों के क्षैतिज योगफल के समान है।

इस रेखाचित्र में हमने प्रत्येक वर्ग का एक ही परिवार माना है, किंतु यह मान्यता किसी बहुत बड़े **बंधन** की रचना नहीं करती। यदि किसी भी वर्ग के परिवारों की संख्या एक से अधिक होती तो भी बाजार माँग का आकार DD_M जैसा ही रहता है।

अब आपूर्ति वक्र की बात उठती है। मान लो कि यह आरंभ में M_0 था। इसे ऊर्ध्वाकार बनाने का एक विशेष कारण है--नई फसल आने के बाद विश्लेषण अवधि में चावल की उपभोग के लिए कुल उपब्धता तो उस समय के समस्त भण्डार के स्तर पर **स्थिर** हो जाती है। उसमें वृद्धि कर पाना संभव नहीं होता।[17] इस आपूर्ति M_0 की दशा में बाजार में संतुलन कीमत P_0 रहती। सभी परिवार कुछ न कुछ चावल खरीदने की स्थिति में रहते। A, B तथा C वर्ग के परिवार क्रमशः A_0, B_0 तथा C_0 मात्राओं की खरीदारी कर सकते थे। ऐसी अवस्था को हम **सामान्य** अवस्था का नाम देते हैं। इसमें किसी प्रकार के अकाल और भुखमरी की **गुंजाइश** नहीं होती।
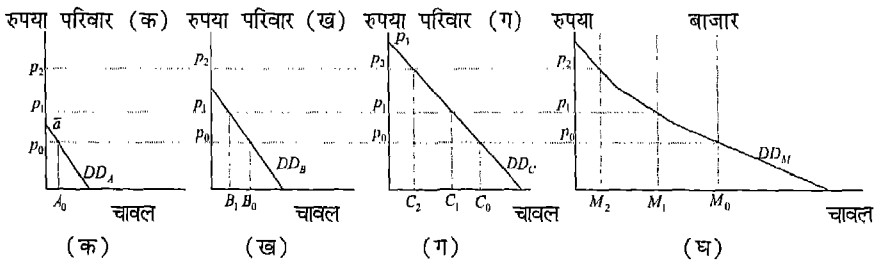
चित्र 5.6 : अकाल का खाद्य उपलब्धिता अपकर्ष सिद्धांत

[16] *यदि चावल की कीमत P_3 या उससे भी अधिक हो जाए तो कोई भी इसे नहीं खरीद पाएगा। ऐसी कोई भी कीमत संतुलन कीमत होने के सर्वदा अयोग्य होती है। अतः उस पर विचार करना व्यर्थ होगा।*

[17] *वैसे आपका आग्रह ही हो तो दाहिनी ओर ऊपर उठता हुआ आपूर्ति वक्र भी बनाकर देखा जा सकता है उससे विश्लेषण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।*

अब हम कल्पना करते हैं कि मानसून की विफलता जैसे किसी कारण से चावल की आपूर्ति घटकर M_1 रह गई है। अब बाजार संतुलनकारी कीमत स्तर P_1 रहता है। हम जानते हैं कि इस ऊँची कीमत पर समाज के गरीबतम परिवार अपना आहार खरीद पाने में असमर्थ हो जाते हैं, हाँ, शेष दोनों वर्ग अभी भी बाजार में बने रह सकते हैं। इस अवस्था को हम **भुखमरी** की अवस्था का नाम दे सकते हैं। समाज के निम्न आय वर्ग के लोग जीवित रह पाने के लिए आवश्यक मात्रा में चावल नहीं खरीद पाते। यदि कुल उपलब्धता इससे भी कम होकर M_2 ही रह जाती तो कीमत P_2 हो जाती। उस दशा में तो मध्यम वर्गीय परिवार B भी बाजार से बाहर धकेल दिए जाते। ऐसी दशा को **भारी भुखमरी** की अवस्था का नाम दिया जा सकता है। यहाँ महत्त्व इस बात का नहीं है कि दो प्रकार के आय-वर्गों के परिवार अपने सामान्य मुख्य आहार से वंचित रह गए हैं। बात यह है कि विशाल जन समुदाय भुखमरी की स्थिति का सामना करने को बाध्य हो गया है। इसी को **खाद्य उपलब्धता अपकर्ष** सिद्धांत कहा जाता है। संक्षेप में इसका अर्थ है मुख्य खाद्य-पदार्थों की उपलब्धता में व्यापक कमी के कारण भारी स्तर पर भुखमरी और अकाल, इस सारी प्रक्रिया में मुख्य कारक रहता है। खाद्य आपूर्ति में भारी कमी के कारण कीमतों में इतनी अधिक वृद्धि हो जाना कि अधिकांश गरीब परिवार जीवन धारण के लिए आवश्यक न्यूनतम मात्रा की खरीदारी कर पाने में भी विफल रह जाते हैं।

5.6 कीमत प्रणाली और प्रतियोगी बाजारों की कुशलता

हमने माँग और पूर्ति में खिसकाव के कई उदाहरणों का विश्लेषण किया है। पर यह सोचना उचित नहीं होगा कि सभी स्थिति परिवर्तन इन उदाहरणों जैसे ही होते हैं। ये उदाहरण बहुधा होने वाले परिवर्तनों को ही दर्शा रहे हैं। बाजार व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन लगातार चलते रहते हैं। प्रायः सभी वस्तुओं की माँग और आपूर्ति में ऐसे बदलाव आते हैं। किंतु बदलाव की प्रक्रिया धीमे-धीमे चलती है।

हम चाहते हैं कि आप विश्लेषण को और आगे बढ़ाने से पूर्व एक बार रुककर ये विचार करके देखें कि माँग आपूर्ति की शक्तियाँ बाजारोन्मुखी अर्थव्यवस्था में **क्या** से जुड़े प्रश्नों का समाधान किस प्रकार करती है।

कल्पना करो कि किसी कारण से सभी व्यक्ति किसी वस्तु की पहले से अधिक खरीदारी करने लगे हैं। इसके कारण बाजार माँग वक्र दाहिनी ओर स्थिति परिवर्तित कर जाता है (ध्यान रहे कि यह एक **वैचारिक** वक्र ही है, कोई भौतिक पदार्थ नहीं है जिसे एक जगह से उठाकर दूसरी जगह रखा जा सकता हो)। इसके कारण बाजार में कीमत ऊँची रहती है। इस नयी कीमत पर भी उपभोक्ता जितनी आवश्यकता समझें खरीदारी कर सकते हैं। उत्पादक जितना चाहे माल बेच सकते हैं। सभी प्रकार के समंजन पूरे हो जाते हैं। माँग की मात्रा तथा आपूर्ति की मात्रा की यह समानता कीमत प्रणाली द्वारा माँगकर्ताओं और आपूर्तिकर्ताओं के बीच बिठाया गया तालमेल भी माना जा सकता है। यहाँ किसी केंद्रीय रूप से आयोजित अर्थव्यवस्था की तरह लाखों उपभोक्ताओं की इच्छाओं और अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमताओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने वाले किसी केंद्रीय प्राधिकरण की आवश्यकता नहीं पड़ी। यह कार्य बहुत ही सुव्यवस्थित ढंग से होता है, जैसे, किसी **अदृश्य हाथ** द्वारा सभी कुछ किया जा रहा हो। कीमत प्रणाली की यही शानदार विशेषता है। वास्तव में यहाँ तक दावा किया जाता है कि कीमत प्रणाली आधुनिक समाज के मूलभूत आविष्कारों में से एक है।

किंतु सभी महान आविष्कारों की ही भांति कीमत प्रणाली में भी इसकी कुछ अपनी ही त्रुटियाँ भी विद्यमान हैं। जैसा कि सेन ने सुझाया (और हमने परिशिष्ट 3 में बताया) है कि खाद्यान्न की कुल उपलब्धता में कमी आए बिना भी समाज में व्यापक स्तर पर भुखमरी फैल सकती है। यह स्वतंत्र या मुक्त बाजार व्यवस्था की संभावित गंभीर समस्या है। समाज में क्षमता, पर्यावरणीय धरोहर के संरक्षण आदि अनेक अन्य ऐसे मामले आते हैं जहाँ बाजार व्यवस्था कुशलतापूर्ण समाधान कर पाने में विफल रहती है। किंतु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं हो सकता कि मुक्त बाजार के स्थान पर कोई बुरी तरह से कुंठित या नियंत्रित कीमत निर्धारण प्रणाली की स्थापना उपयुक्त होगी।

मुक्त बाजार व्यवस्था की त्रुटियाँ क्या हैं और उन्हें दूर करने के उपाय क्या हो सकते हैं? ये प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, किंतु, इनके विषय में चर्चा हमारे वर्तमान पाठ्यक्रम की सीमाओं का उल्लंघन कर जाएगी। इसके लिए आपको अर्थशास्त्र के उच्च स्तर पर अध्ययन तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

5.7 सरकार की आर्थिक नीति और बाजार संतुलन

केवल माँग और आपूर्ति के परिवर्तनकारी कारकों के प्रभाव से ही बाजार संतुलन प्रभावित नहीं होता। सरकार की विभिन्न नीतियों का भी इस पर बहुत प्रभाव होता है। करों और साहाय्य (Subsidies) आदि की नीतियाँ तो माँग और आपूर्ति को खिसकाकर अप्रत्यक्ष रूप से बाजार कीमतों को प्रभावित करती हैं। इनके बहुत अच्छे उदाहरण विक्रय कर और उत्पादन शुल्क हैं।[18] इन्हें बाजार में अप्रत्यक्ष (सरकारी) हस्तक्षेप का नाम दिया जाता हैं। कुछ अन्य नीतियों का अनुसरण करते हुए सरकार कुछ वस्तुओं की बाजार कीमतों का प्रत्यक्ष रूप से निर्धारण भी करती है। इन्हें **प्रत्यक्ष हस्तक्षेप** कहा जाता है। आइए प्रत्यक्ष हस्तक्षेपों के कुछ उदाहरणों पर विचार करें।

कीमत नियंत्रण

यह समझा जाता है कि यदि गेहूँ, चावल, चीनी आदि आवश्यक वस्तुओं को पूरी तरह से बाजार की शक्तियों के भरोसे छोड़ दिया गया तो गरीब जन समुदाय तो बाजार संतुलनकारी कीमतों पर उन्हें खरीदने में समर्थ नहीं हो पाएगा।[19] इसी कारण बहुत वर्षों से सरकार राशन की दुकानों के माध्यम से इन वस्तुओं की कीमतों को नियंत्रित रखने की व्यवस्था बनाए हुए है।

माँग और आपूर्ति वक्रों की भाषा में कीमत नियंत्रण का अर्थ है इन वक्रों के प्रतिच्छेदन द्वारा निर्धारित संतुलन स्तर से भी कम कीमत का निर्धारण करना (मान्यता यही है कि वह संतुलन कीमत बहुत ऊँची है)। यही बात चित्र 5.7(क) में दिखाई जा रही है। यहाँ नियंत्रित कीमत P_1 है जो कि संतुलन कीमत P_0 से कम है। इस स्थिति में माँगी गई मात्रा P_1D_1 उस मात्रा से कहीं अधिक होती है जिसकी उत्पादक आपूर्ति (P_1S_1) करना चाहते हैं। इसका सीधा अर्थ होगा कि प्रत्येक उपभोक्ता की उस नियंत्रित कीमत पर माँग को पूरा कर पाना संभव नहीं होगा। इसके निम्न प्रभाव होंगे—

(1) किसी न किसी प्रकार की राशन व्यवस्था करनी होगी, अर्थात, उपभोक्ताओं की प्रति सप्ताह/

---

[18] *उदाहरण के लिए 2001-02 में दिल्ली में पेस्ट्रियों पर 8% और साइकिलों पर 5% विक्रय कर लगा था विभिन्न राज्यों में सामान्य विक्रय कर की दरें एक जैसी नहीं हैं। ये 5% से 15% तक पाई जाती हैं। कुछ वस्तुओं को पूरी तरह से इस कर से मुक्त रखा गया है।*

[19] *यह बात पूर्व चर्चित अकाल सिद्धांत जैसी ही है।*

पखवाड़ा या मासिक खरीदारी की अधिकतम सीमा का निर्धारण करना होगा। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि राशन की दुकान पर हम अपनी मर्जी से थोक में खरीदारी क्यों नहीं कर पाते।

(2) नियंत्रित मूल्य पर वस्तुओं की कमी बनी रहती है। इसी कारण कुछ उपभोक्ता ऐसे भी निकल आते हैं जो अधिक ऊँचे दाम चुकाकर भी और खरीदारी (राशन द्वारा तय स्तर से अधिक) करने को तैयार होते हैं। इसी कारण से **काला बाजार** का जन्म होता है।
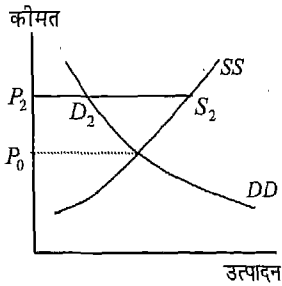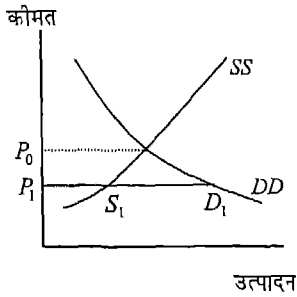
चित्र 5.7 : कीमत नियंत्रण और कीमत समर्थन

समर्थन मूल्य

यह भी बहुत ही जानी पहचानी बात है कि इन्हीं आवश्यक वस्तुओं से जुड़े उत्पादकों गन्ना, गेहूँ और धान के किसानों के लिए भी **समर्थन मूल्यों** अथवा कीमत समर्थन कार्यक्रमों की व्यवस्था चल रही है। दूसरे शब्दों में उनके लिए बाजार के संतुलन स्तर से ऊँची कीमतें सुलभ कराने की नीति अपनाई गई है। इन कार्यक्रमों का ध्येय किसानों की आय की बाजार कीमतों के उतार-चढाव के दुष्प्रभावों से रक्षा करना है। समर्थन मूल्यों की प्रक्रिया को हमने चित्र 5.7 (ख) में दर्शाया है। यहाँ समर्थन कीमत स्तर P_2 है। यह कीमत नियंत्रण दशा के विपरीत संतुलन कीमत P_0 से अधिक है। अत: इस पर आपूर्ति P_2S_2 होगी जो कि माँग P_2D_2 से कहीं अधिक रहती है। अर्थात् बाजार में अधिक अतिरिक्त आपूर्ति आ जाएगी। इस अधिपूर्ति D_2S_2 को कौन खरीदेगा? यह कार्य सरकार के जिम्मे आ जाता है। उसे पूर्व घोषित समर्थन मूल्य पर किसान जितना भी माल बेचना चाहें खरीदने को तैयार रहना पड़ता है।

इस विषय में एक और महत्त्वपूर्ण जानकारी यह है कि कीमत नियंत्रण सामान्यत: विकासशील देशों में ही पाए जाते हैं, विकसित देशों में नहीं। दूसरी ओर समर्थन मूल्यों की व्यवस्थाएँ दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में चल रही हैं। हाँ अब विश्व व्यापार संगठन के सदस्य देशों में इस संधि की शर्तों के अधीन कई प्रकार के समर्थन मूल्यों के कार्यक्रमों को धीरे-धीरे समाप्त करने के प्रयास आरंभ हो गए हैं।[20, 21]

---

[20] *कीमत नियंत्रण और समर्थन मूल्य कार्यक्रमों की रचना के पीछे नीयत तो अच्छी ही रही है पर अब आर्थिक साहित्य में एक बहस चल रही है। इसमें दावा किया जा रहा है कि ये नीतियाँ अन्य नीतियों की तुलना में अपने इन घोषित लक्ष्यों की प्राप्ति में कहीं कम कुशल साबित होती हैं। अर्थात् अन्य नीतियाँ अधिक आसानी से उन्हीं ध्येयों को प्राप्त करा देती हैं। इस विषय में आप अधिक जानकारी उच्च स्तरीय अर्थशास्त्र के विशेष पाठ्यक्रमों में ही पा सकेंगे।*

[21] *विश्व व्यापार संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ की भाँति एक अंतरराष्ट्रीय संस्था है। इससे 120 से भी अधिक देश विश्व भर में स्वतंत्र व्यापार वाणिज्य को प्रोत्साहन देने का लक्ष्य बनाकर एकजुट हुए हैं। इसकी स्थापना 1995 में हुई। स्विट्जरलैंड में जेनेवा में इसका मुख्यालय है। भारत इसके संस्थापकों में से एक है। चीन वर्ष 2001 में ही विश्व व्यापार संगठन में सम्मिलित हो पाया है।*

सार संक्षेप

- अतिरिक्त माँग खरीदारों में स्पर्धा को बढ़ाकर बाजार कीमतों में वृद्धि कर देती है। अतिरिक्त आपूर्ति उत्पादकों की स्पर्धा को बढ़ाकर बाजार कीमतों को कम कर डालती है।
- बाजार संतुलन पर माँग और आपूर्ति वक्र एक-दूसरे को काटते हैं, वहाँ किसी प्रकार की अतिरिक्त माँग या अतिरिक्त आपूर्ति नहीं होती।
- एक अर्थक्षमता विहीन उद्योग वह होता है जिसमें माँग और आपूर्ति वक्रों का धनात्मक उत्पादन स्तर पर प्रतिच्छेदन नहीं हो पाता। आपूर्ति वक्र पूरी तरह से माँग वक्र से ऊपर ही रह जाता है अत: कुछ भी उत्पादन नहीं होता।
- माँग वक्र के दाहिनी (बाईं) ओर खिसकने से कीमत और विनियम की मात्रा दोनों में वृद्धि (कमी) होती है।
- आपूर्ति वक्र के दाहिनी (बाईं) और खिसकने से कीमत में कमी (वृद्धि) तथा आपूर्ति में वृद्धि (कमी) होती है।
- यदि माँग और आपूर्ति वक्र दोनों ही दाहिनी (बाईं) ओर खिसक जाएँ तो कीमत के परिवर्तन में अनिश्चितता होती है, किंतु, मात्रा में वृद्धि (कमी) सुनिश्चित रूप से हो जाती है।
- यदि माँग वक्र दाहिनी तथा आपूर्ति वक्र बाईं ओर खिसक जाए तो कीमत में वृद्धि सुनिश्चित रहती है पर मात्रा के परिवर्तन के विषय में स्पष्टत: कुछ कह पाना संभव नहीं होता।
- किसी उपभोग में प्रतिस्थापक (प्रतिपूरक) वस्तु की कीमत वृद्धि के कारण वस्तु के उपभोग और कीमत में वृद्धि (कमी) हो जाती है।
- आय वृद्धि के फलस्वरूप अधिक (कम) कीमत और मात्रा का विनियम होगा, यदि वस्तु सामान्य (निकृष्ट) हो।
- अभिरुचियों में सकारात्मक (नकारात्मक) परिवर्तन से कीमत और विनियम मात्रा में वृद्धि (कमी) हो जाती है।
- लागत घटाने वाली तकनीकी प्रगति से कीमत में कमी होती है और मात्रा में वृद्धि हो जाती है।
- आदान कीमतों की वृद्धि से वस्तु कीमत में वृद्धि होती है और उत्पादन में कमी आती है।
- उत्पादन शुल्क की दर की वृद्धि कीमत को बढ़ा देती है और मात्रा को कम कर देती है।
- उत्पादन में प्रतिस्थापक वस्तु के दामों में वृद्धि से वस्तु की कीमत में वृद्धि होगी इसकी पहले से कम मात्रा बिक पाएगी।
- उद्योग में प्रतिस्पर्धा में वृद्धि से कीमत में कमी आती है और विनियम की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।
- अकाल के **खाद्य उपलब्धता अपकर्ष सिद्धांत** के अनुसार खाद्यान्न की उपलब्ध मात्रा में कमी आने से खाद्यान्नों की कीमतें इतनी बढ़ जाती हैं कि निम्न आय और संपत्ति वर्ग के जन समुदाय इन्हें नहीं खरीद पाते। इससे भुखमरी पैदा होती है।
- स्वतंत्र बाजार में माँग-आपूर्ति संतुलन को उपभोक्ताओं और उत्पादकों के बीच तालमेल के रूप में देखा जा सकता है।
- कीमत नियंत्रण व्यवस्था में **राशन प्रणाली** का होना आवश्यक है, क्योंकि नियंत्रित दामों पर माँग की मात्रा आपूर्ति की तुलना में कहीं अधिक होती है। इसी कारण काला बाजारी भी होती है।
- समर्थन मूल्य व्यवस्था के कारण उत्पादन का आधिक्य हो जाता है। सरकार को उसकी खरीदारी का इंतजाम करना पड़ता है।

▶▶▶ अभ्यास ◀◀◀

भाग-1

5.1 किसी वस्तु की 'अतिरिक्त माँग' का अर्थ बताएँ।

5.2 किसी वस्तु की 'अतिरिक्त आपूर्ति' का अर्थ बताएँ।

5.3 बाजार संतुलन की परिभाषा करें।

5.4 संतुलन कीमत का अर्थ बताएँ।

5.5 किसी गैर अर्थक्षम उद्योग का आपूर्ति वक्र माँग वक्र की तुलना में कहाँ स्थित होगा?

5.6 उपभोग में प्रतिस्थापक वस्तु की कीमत में वृद्धि का संतुलन कीमत पर क्या प्रभाव होता है?

5.7 किसी आदान की कीमत में वृद्धि का उत्पादन बाजार में संतुलन स्थिति में विनियम की मात्रा पर कैसे प्रभाव पड़ता है?

5.8 अभिरुचियों में सकारात्मक परिवर्तन का कीमत और विनियम मात्रा पर कैसे प्रभाव पड़ता है?

5.9 लागत में बचत करने वाली तकनीकी प्रगति कीमत और विनियम मात्रा को कैसे प्रभावित करती है?

5.10 उत्पादन शुल्क में वृद्धि बाजार कीमत और विनियम मात्रा को कैसे प्रभावित करती है?

5.11 माँग में वृद्धि कब आपूर्ति की मात्रा को अपरिवर्तित छोड़कर केवल कीमत में वृद्धि कर देगी?

5.12 अकाल का 'खाद्य उपलब्धता' अपकर्ष सिद्धांत हमें क्या बताता है?

5.13 नियंत्रित कीमत और संतुलन कीमत में क्या संबंध है?

5.14 समर्थन मूल्य और संतुलन कीमत में क्या संबंध है?

5.15 समर्थन मूल्य व्यवस्था में 'अतिरिक्त आपूर्ति' क्यों पैदा हो जाती है?

भाग-2

5.16 माँग आपूर्ति सारणियों को एक चित्र के माध्यम से बाजार संतुलन का निर्धारण समझाएँ।

5.17 किसी उद्योग के अर्थक्षम होने का क्या अभिप्राय है?

5.18 बाजार कीमत और विनियम मात्रा पर क्या प्रभाव होगा, जबकि

(क) माँग वक्र दाहिनी ओर खिसक जाए?

(ख) माँग वक्र पूर्णत: लोचशील हो और आपूर्ति वक्र बाहर की ओर खिसक जाए?

(ग) माँग और आपूर्ति वक्रों में समान अनुपात में बाईं ओर खिसकाव हो जाए?

5.19 आय में वृद्धि किस प्रकार से किसी वस्तु की कीमत को प्रभावित करती है?

5.20 भयंकर सूखे से गेहूँ के उत्पादन में भारी कमी का बाजार में गेहूँ की कीमतों पर क्या प्रभाव होगा? विश्लेषण करें।

5.21 मान लो कि ज़ीनों की माँग में वृद्धि हो जाती है। किंतु इसी समय कपास की कीमतों में वृद्धि के कारण इनकी आपूर्ति घट जाती है। अब बाजार में ज़ीनों की कीमत और विनियम की संख्या (मात्रा) पर क्या प्रभाव होगा?

5.22 "यदि माँग और आपूर्ति दोनों वक्र एक साथ ही खिसक जाते हैं तो कीमत में परिवर्तन आना निश्चित नहीं रहता।" व्याख्या करें।

5.23 प्रतियोगी बाजारोन्मुखी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ताओं और उत्पादकों के निर्णयों में तालमेल कैसे स्थापित होता है?

5.24 माँग वक्र में खिसकाव के संतुलन कीमत और मात्रा पर प्रभावों का विवरण दें।

5.25 बाजार व्यवस्था में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप का एक उदाहरण दें।

5.26 आप इनसे क्या समझते हैं–(क) नियंत्रित कीमत (ख) समर्थन कीमत

5.27 एक चित्र द्वारा समझाएँ कि कीमत नियंत्रण व्यवस्था में राशनिंग क्यों जरूरी है? काला बाजारी कैसे जन्म ले लेती है।

5.28 इन सभी प्रश्नों को माँग और आपूर्ति वक्रों के खिसकाव या उन्हीं पर वक्रों के स्थान परिवर्तन द्वारा हल करें–

(क) वर्ष 2001 में भारत के सर्वोच्च न्यायलय ने सार्वजनिक स्थलों पर धूम्रपान पर रोक लगा दी। इसका सिगरेटों की औसत कीमत और बिक्री पर क्या प्रभाव होगा?

(ख) खनिज तेल के नए भंडारों की खोज से डीज़ल और पैट्रोल की कीमतें कम हो जाती हैं। इसका नई कारों के बाजार पर क्या प्रभाव होगा?

(ग) नए पर्यावरण नियमों के अनुसार औषध निर्माताओं को ऐसी उत्पादन विधियों का प्रयोग करने को बाध्य होना पड़ता है जो महँगी तो रहती हैं, पर जिससे पहले की अपेक्षा हानिकारक रसायनों का उत्सर्जन कम हो जाता है। इसका औषधियों की कीमतों पर क्या प्रभाव होगा?

5.29 चीन टेलीफोन यंत्रों का एक बहुत बड़ा उत्पादक है। यह हाल ही में विश्व व्यापार संगठन का सदस्य बना है। अब इसे भारत जैसे अन्य देशों में अपना माल बेचने की छूट हो गई है। कल्पना कीजिए ये भारत को इन टेलीफोनों की बड़ी भारी खेप का निर्यात कर देता है।

(क) भारत के बाजार में टेलीफोनों की कीमत और मात्रा पर क्या प्रभाव होगा?

(ख) यदि भारत में टेलीफोनों की माँग लोचशील है, तो, चीनी खेप के बाजार के आने का टेलीफोनों की खरीदारी पर कुल व्यय पर क्या प्रभाव होगा?

5.30 वर्ष 2002-03 के संघीय बजट ने चाय पर उत्पादन शुल्क 2 रुपए प्रति किलो से घटा कर 1 रुपया प्रति किलो कर दिया। अन्य बातें पूर्ववत रहने पर, इसका चाय की बाजार कीमत पर क्या प्रभाव होगा?

5.31 मान लो कि चीनी की कीमतों पर से सभी नियंत्रण हटा दिए जाते हैं। इसका, अन्य बातें पूर्ववत् रहने पर, चीनी की कीमतों और उपभोग की गई मात्रा पर क्या प्रभाव होगा?

भाग-3

5.32 श्रीमती रामगोपाल का विचार है कि अर्थशास्त्री परस्पर विरोधी बातें करते रहते हैं। जैसे–'कीमत में कमी होती है तो माँग बढ़ जाती है, पर जैसे माँग में वृद्धि होती है तो कीमत में भी वृद्धि हो जाती है'। टिप्पणी करें।

5.33 अकालों के 'खाद्य उपलब्धता अपकर्ष' सिद्धांत का विवरण दें।

एकाधिकार और एकाधिकारी प्रतियोगिता

अध्याय 6

हमने अध्याय 4 में बाजार संरचना के विचार का प्रारंभिक परिचय आपको दिया था। एक पूर्ण प्रतियोगी बाजार वह होगा जिसमें ये तीन विशेषताएँ विद्यमान हों–(क) बाजार में क्रेताओं और विक्रेताओं की बहुत बड़ी संख्या हो, (ख) उत्पादन या वस्तु समरूप हो, तथा (ग) बाजार में दीर्घकाल में किसी के आने या जाने पर कोई प्रतिबंध या रुकावट नहीं हो। हमने उसी अध्याय में यह भी जाना कि किस प्रकार पहली दो विशेषताएँ (क) और (ख) मिलकर अधिकतम लाभ कमाने के ध्येय से कार्य कर रही फर्म के आपूर्ति वक्र का निर्धारण कर देती हैं। अध्याय 5 में हमने माँग और आपूर्ति वक्रों के परस्पर प्रभावों पर विचार किया था। वहीं हमने यह भी समझा कि कीमत प्रणाली या बाजार व्यवस्था किस प्रकार कार्य करती है।

वर्तमान अध्याय में हमारा ध्यान बाजार की संरचना पर ही केंद्रित रहेगा। हमने पूर्ण प्रतियोगिता की दो विशेषताओं (क) और (ख) के प्रभावों को समझ ही लिया है। अब तीसरी विशेषता (ग) के दीर्घकालिक प्रभावों का विश्लेषण करेंगे। बाजार संरचना के ऐसे स्वरूप या प्रतिमान भी होते हैं जो पूर्णत: प्रतियोगी नहीं होते। इन्हें सामान्यत: **अपूर्ण प्रतियोगी बाजारों** का सांझा नाम दे दिया जाता है। इसमें तीन पृथक प्रकार की बाजार संरचनाएँ होती हैं–एकाधिकार, एकाधिकारी प्रतियोगिता और अल्पाधिकार। इस अध्याय में हम इनमें से प्रथम और द्वितीय प्रतिमान पर विचार करेंगे।

6.1 दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता—निर्बाध आगमन और निकासी

बाजार में बिना रुकावट आगमन या उससे निकासी की व्याख्या प्रारंभ करने से पूर्व हम दो-एक बातों पर कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक समझते हैं। ये हैं—

(1) आपको ध्यान होगा हमने अध्याय 3 में कहा था कि दीर्घकाल में कोई लागत स्थिर नहीं रहती। साथ ही साथ हमने देखा था कि दीर्घकाल में औसत (LAC) तथा सीमांत (LMC) दोनों ही लागत वक्र U-आकार के होते हैं। वास्तव में LAC के U-आकार का आधार निम्न उत्पादन स्तर पर पैमाने के वृद्धिमान (ग) फिर स्थिर और अंततः ह्रासमान प्रतिफलों पर टिका था। LAC का यह आकार ही LMC के U-आकार का भी निर्धारक बन गया था।

(2) दीर्घकाल में उत्पादक का संतुलन या लाभ के अधिकतम होने का कार्य कैसे होता है? इसका उत्तर इतना-सा ही है कि यहाँ भी यह प्रक्रिया वैसे ही चलती हैं जैसे अल्पकाल में चल रही थी। लाभ तभी अधिकतम होगा जब कि P = LMC। इसके आर्थिक तर्क वैसे ही रहते हैं जैसे अल्पकाल में थे।

अब हम बाजार में निर्बाध आगमन और (इससे) निकासी की व्याख्या कर सकते हैं।

कल्पना कीजिए वस्तु की बाजार कीमत P_1 है। इस समय सभी फर्में ऐसे बिंदुओं पर उत्पादन कर रही हैं जहाँ कीमत रेखा उनके LMC वक्रों का छेदन कर रही है। यह भी कल्पना करें की कीमत P_1 इतनी ऊँची है कि अधिकतम लाभ देने वाले उत्पादन स्तर पर फर्मों को वास्तव में धनात्मक लाभ हो रहा है। अर्थशास्त्र में अक्सर धनात्मक लाभ को **असामान्य लाभ** कहा जाता है इसका कारण यही है कि जब उत्पादक की अपनी अवसर लागत सहित समस्त लागतों की भरपाई कीमत से हो जाती है तो फिर धनात्मक लाभ का अर्थ होगा कि उत्पादक अपनी अवसर लागत से भी अधिक कमा रहा है। इसी से धनात्मक लाभ को **असामान्य लाभ** का नाम दिया जाता है। इसी प्रकार **ऋणात्मक लाभ** की स्थिति की व्याख्या **असामान्य हानि** के रूप में की जाती है।

हम मान लेते हैं कि किसी उद्योग में असामान्य लाभ कमाए जा रहे हैं। पर इससे प्रोत्साहित होकर अनेक नए उत्पादक इस कार्य में लग जाएँगे (उनके इस उद्योग में प्रवेश करने पर कोई प्रतिबंध नहीं है)। इस प्रविष्टि के प्रभाव स्वरूप बाजार का आपूर्ति वक्र दाहिनी ओर खिसक जाएगा। इससे बाजार कीमत और उत्पादकों के लाभ में कमी आएगी। इसी विचार का दूसरा रूप ये होगा—नई फर्मों के बाजार में आ जाने से प्रतियोगिता में वृद्धि हो जाती है, परिणामस्वरूप, कीमतों और लाभ में कमी आना स्वाभाविक होगी। यह प्रक्रिया कब तक चलती रहेगी? जब तक कि असामान्य लाभ पूरी तरह से समाप्त नहीं हो जाते (असामान्य लाभों के कारण आकृष्ट होकर आने वाली नयी फर्मों की भीड़ तब तक लगी रहेगी जब तक वह आकर्षण विद्यमान है। उसके समाप्त होते ही वह भीड़ भी छंट जाएगी)।

इसके विपरीत यदि आरंभिक कीमत इतनी कम होती कि फर्मों को हानि हो रही होती तो फिर कुछ फर्में अवश्य कार्य बंद करने या किसी अन्य उद्योग की ओर पलायन करने का प्रयास शुरू कर देती (आखिर उनके इस उद्योग से बाहर जाने पर कोई प्रतिबंध तो लगा नहीं था)। परिणामस्वरूप बाजार का आपूर्ति वक्र बाईं ओर खिसक जाएगा और इसके प्रभाव से कीमत में सुधार होगा। कीमत में वृद्धि के कारण हानि कम रह जाएगी। इस उद्योग से फर्मों की निकासी या पलायन तब तक चलता रहेगा जब तक कि हानि की संभावना समाप्त नहीं हो जाती।

उपर्युक्त दोनों अनुच्छेदों की चर्चा का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि यदि **उद्योग में प्रवेश और निकासी पर कोई रुकावट नहीं हो तो फिर संतुलन की स्थिति में लाभ शून्य के समान ही रह जाएगा।** एक बात पर पुन: ध्यान दें–P = LAC का अर्थ ही लाभ का शून्य होना है। इसको **समकारी कीमत** (Break-even Price) भी कहते हैं (अर्थात ऐसी कीमत जिस पर असामान्य लाभ शून्य हो दूसरे शब्दों में वह कीमत जिस पर न असामान्य लाभ हो और न ही असामान्य हानि)। अब हम आग्रहपूर्वक कह सकते हैं कि बाजार में निर्बाध आगमन और निकासी का अभिप्राय है कि दीर्घकालिक बाजार कीमत समकारी कीमत के समान होगी।

पर हम जानते ही हैं कि अधिकतम लाभ की शर्त है P = LMC। अत: दीर्घकालिक प्रतियोगी संतुलन की परिभाषा सूचक शर्त होगी–

$$P = LMC = LAC$$

इसका शाब्दिक अभिप्राय होगा–दीर्घकालिक संतुलन में उत्पादक फर्में भी संतुलन में हैं वे अधिकतम लाभ कमा रही हैं और उद्योग में आवागमन नहीं हो रहा है।

इसी विचार को चित्र 6.1 में समझाया गया है। चित्र (क) में एक फर्म q_L उत्पादन कर रही है। इस उत्पादन स्तर पर सीमांत लागत और औसत लागत दोनों ही कीमत P_L के समान हैं। कीमत का औसत लागत के समान होने का अर्थ होगा कि फर्म को कोई असामान्य लाभ नहीं मिलेगा। यह बात इस भाग (क) के चित्र की रचना में ही निहित है कि इस उद्योग में फर्मों की संख्या भी संतुलन में है, वे न आवश्यकता से अधिक है और न ही जरूरत से कम। यही बात लाभ के शून्य स्तर से भी संगत रहती है या मेल खाती है। किंतु हमारा यह चित्र फर्मों की संख्या के बारे में हमें कोई सूचना नहीं दे पाता। इसके निर्धारण के लिए आपको अभ्यास प्रश्न 6.4 को हल करना होगा।

चित्र का भाग (ख) फर्मों की संख्या के संतुलित स्तर पर रहने की दशा में उद्योगव्यापी या बाजार आपूर्ति वक्र दिखा रहा है। साथ ही बाजार माँग वक्र भी दिखाया गया है। बाजार की संतुलन स्थिति में कीमत P_L रहती है। इस कीमत पर कुल मिलाकर Q_L मात्रा का उत्पादन और विक्रय होता है।

पूर्ण प्रतियोगी फर्म के दीर्घकालिक संतुलन की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है–यहाँ फर्म उस Q_L स्तर का उत्पादन करती है जिस पर उसकी LAC न्यूनतम होती हो। अर्थात फर्म अपने कुशलतम निष्पादन बिंदु पर उत्पादन करती है। फर्म का उत्पादन स्तर इतना विशाल होता है कि यह उत्पादन के पैमाने के विस्तार से सभी संभावित लाभ उठा लेती है, पर साथ ही इसका उत्पादन इतना अधिक भी नहीं होता कि उसे पैमाने के ह्रासमान प्रतिफलों की समस्याओं को झेलना पड़ जाए।
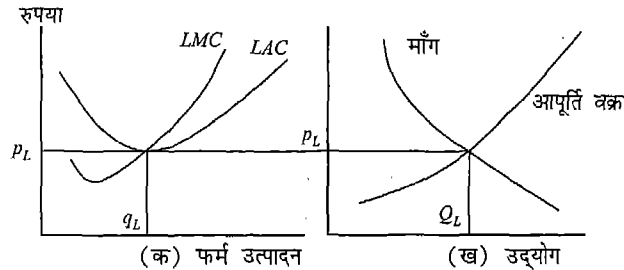
चित्र 6.1 : दीर्घकाल में फर्म और बाजार का संतुलन

6.2 एकाधिकार

आप में से बहुतों ने यह शब्द पहले भी सुना होगा। इसका अर्थ है बाजार में केवल एक विक्रेता/उत्पादक/आपूर्तिकर्ता का होना। इसे सदैव भौगोलिक स्थान या आयाम के साथ ही परिभाषित किया जाता है। भारत में विद्युत क्षेत्र में उदारीकरण 1990 के दशक में प्रारंभ हुआ है। उससे पूर्व विभिन्न प्रांतों में उनके अपने राज्य विद्युत मण्डलों को ही बिजली के उत्पादन, संवाहन और वितरण का एकाधिकार होता था। ये राज्य विद्युत मण्डल अपने-अपने राज्य में एकाधिकारी होते थे।

आपने बहुत बार लोगों को अपने किसी दस्तावेज की फोटो प्रतिलिपि को **ज़ेरोक्स** कहते सुना होगा। वास्तव में ज़ेरोक्स उस अमेरीकी कंपनी का नाम है जिसने 1959 में पहली बार इस प्रकार प्रतिलिपि करने की मशीन बनाई थी। उसने अपनी प्रतिलिपि विधि को पेटेंट करा रखा है (पेटेंट की व्याख्या हम शीघ्र ही करने वाले हैं)। 1960 के दशक में यही एकमात्र कंपनी थी जो सादे कागज़ पर फोटोप्रतिलिपि बनाने वाली मशीनों का निर्माणकर उन्हें बाजार में बेच रहीं थी।[1] यह एक निजी एकाधिकारी फर्म का उदाहरण है।

एकाधिकारी बाजार की रचना पूर्ण प्रतियोगिता से एकदम उलट होती है। यहाँ अनेक के स्थान पर केवल एक उत्पादक/विक्रेता होता है। प्रतियोगिता नहीं होती। यह भी निहित रूप से स्वीकार कर लिया जाता है कि एकाधिकारी के उत्पादन का कोई विकल्प या प्रतिस्थापक वस्तु या सेवा बाजार में सुलभ नहीं है। बाजार में स्वतंत्र रूप से प्रवेश कर पाना भी अन्य फर्मों के लिए आसान नहीं है, वरना, निश्चित रूप से अनेक फर्में इस उद्योग में घुस जातीं।

एकाधिकारी बाजार संरचना का उदय इनमें से किसी भी कारण से हो सकता है–

(क) सरकार द्वारा केवल एक कंपनी को किसी वस्तु या सेवा के उत्पादन का लाइसेंस देना किसी क्षेत्र या उद्योग में एकाधिकारी फर्म को जन्म दे सकता है। हम जानते ही हैं कि वर्ष 2002 तक विदेश संचार निगम भारत में अंतरराष्ट्रीय टेलीफोन सेवा प्रदान करने वाली एकाधिकारी कंपनी थी।

(ख) बहुत बड़ी निजी कंपनी द्वारा नए उत्पादन की खोज या फिर उस द्वारा किसी वर्तमान वस्तु को बनाने की नई विधि विकसित करने के लिए शोध और विकास। यह प्रायः विकसित देशों में ही हो पाता है। शोध में किए निवेश की प्रतिपूर्ति पाने के ध्येय से वे अपनी सरकार के पास पेटेंट पंजीकृत कराने के लिए आवेदन कर सकते हैं। सरकार द्वारा पंजीकरण इस बात की अधिकारिक घोषणा होती है कि ये कंपनी ही नए उत्पाद या उत्पादन विधि की विकासकर्ता है और अन्य किसी को उक्त कंपनी से लाइसेंस पाए बिना इसके उत्पादन या प्रयोग करने का अधिकार नहीं है। दूसरे शब्दों में पेटेंट के प्रमाण पत्र या पेटेंट अधिकार की स्वीकारोक्ति से एकाधिकार का उदय हो सकता है। ज़ेरोक्स कंपनी इसी का एक उदाहरण है।[2]

---

[1] *सादे कागज पर फोटो प्रतिलिपि करने की मशीन को आज तक के इतिहास का सबसे सफल व्यावसायिक आविष्कार माना जाता है। अब तो विश्व में ज़ेरोक्स के अतिरिक्त और भी बहुत-सी कंपनियाँ ऐसी मशीनें बनाने लगी हैं। जैसे केनन, मीता, पेनासोनिक, रिको, रॉयल, शार्प और तोशीबा। अनेक फैक्स मशीनों में भी प्रतिलिपि बन सकती है।*

[2] *ऐसे ही एकाधिकार का एक अन्य उदाहरण एलीलिली नामक दवा निर्माता कंपनी है। इसने व्यापक रूप से प्रयोग होने वाली अवसाद विरोधी दवा* ***प्रोजेक*** का पेटेंट लिया हुआ है। यह पेटेंट वर्ष 2003 तक वैध रहेगा।

विस्तार 6.1

पेटेंट कानून (परीक्षा अनुपयोगी)

अधिकांश विकसित देशों में व्यापक पेटेंट कानून बने हैं। पेटेंट की अवधि में इसका धारक अपनी प्रौद्योगिकी या तकनीकों का प्रयोग करने की अनुज्ञा (लाइसेंस) अन्य व्यक्तियों/फर्मों को प्रदान कर सकता है। सामान्यतः ऐसा लाइसेंस उस बाजार में काम के लिए दिया जाता है जहाँ पेटेंट धारक स्वंय मौजूद नहीं रहता। अक्सर यह बाजार किसी अन्य देश में होता हैं। विकसित देशों में इन कानूनों का बड़ी कड़ाई से पालन होता है। यदि कोई फर्म किसी के पेटेंट का बिना लाइसेंस प्रयोग करे तो पेटेंट धारी उसे अदालत में घसीट सकता है, जहाँ उसे बहुत जल्दी उपयुक्त निर्णय सुलभ हो जाता है।

भारत में अभी पेटेंट कानून इतने विकसित नहीं हुए हैं और न ही उनके अनुपालन पर अधिक बल दिया गया है। इसका कारण यही है कि भारतीय फर्मों ने अभी तक शोध, विकास और आविष्कार-परिष्कार आदि पर अपनी व्यावसायिक गतिविधियों को केंद्रित नहीं किया है। कुछ अपवादों को छोड़ हम विदेशों से प्रौद्योगिकी/टेकनॉलोजी का आयात करना ही पर्याप्त मान लेते हैं।

भारत का अभी तक का सबसे महत्त्वपूर्ण पेटेंट कानून **भारतीय पेटेंट अधिनियम 1970** है। इसमें उन सभी नए आविष्कारों, उत्पादनों और प्रक्रियाओं को पेटेंट करने की व्यवस्था है जो उपयोगी हैं, या जिनकी उपादेयता अभी स्पष्ट नहीं हो पाई है। पर इस कानून ने दवाओं और खाद्य-सामग्री के विषय में स्पष्ट रूप से उत्पादन को पेटेंट करने की मनाही की है। इस व्यवस्था के आधार पर भारत के दवा निर्माता अन्य विकसित देशों में आविष्कृत दवाओं का निर्माण कर उन्हें विश्व के अनेक अल्पविकसित देशों में बेच पा रहे हैं। एक भारतीय दवा निर्माता कंपनी **सिपला** इसका एक उदाहरण है। ये वर्षों से घाना को ऐड्स की दवा **कोम्बीवीर** की आपूर्ति कर रही है।

किंतु अब विश्व व्यापार संगठन के नियमों से बाध्य होकर अनेक देशों को अपने पेटेंट नियमों में सुधार करने पड़ रहे हैं। भारतीय पेटेंट अधिनियम 1970 में एक महत्त्वपूर्ण संशोधन 1999 में किया गया है। अब भारत में भी औषध और खाद्य उत्पादनों के उत्पाद एवं प्रक्रिया के पेटेंट पंजीकृत कराए जा सकते हैं। कुल मिलाकर अब पेटेंटों का संरक्षण पहले से कहीं अधिक सतर्कतापूर्वक किया जा रहा है।

आइए अब सिपला द्वारा घाना को कोम्बीवीर की आपूर्ति की कहानी पर वापस चलें। बहुराष्ट्रीय कंपनी ग्लैक्सो-स्मिथ-क्लाईन ने घाना सरकार के पास दावा किया कि वह इस औषधि के प्रजाती व्यापी पेटेंट की स्वामिनी है और सिपला उसका अतिक्रमण कर रही है। घाना सरकार ने दोनों पक्षों की सुनवाई के बाद वर्ष 2000 से सिपला को इस दवा की आपूर्ति के आदेश देने बंद कर दिए हैं।

भारत में यह आशंका फैल रही है कि विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता के कारण हमें दूसरे देशों के पेटेंटों को स्वीकार करना पड़ेगा। इससे दवाओं के क्षेत्र में, विशेषकर भारतीय कंपनियाँ, अनेक आवश्यक दवाओं का उचित दामों पर उत्पादन और विक्रय करने की स्थिति में नहीं रहेंगी। जैसे ही विदेशी कंपनियाँ यहाँ के बाजार में आएगी, दवाओं के दाम आकाश छूने लगेंगे और देश का गरीब जन समुदाय इन दवाओं से स्वास्थ्य लाभ की संभावनाओं से वंचित हो जाएगा।

क्या ये पेटेंट व्यवस्था भारत जैसे विकासशील देश के लिए अच्छी रहेगी? क्या भारत को विश्व व्यापार संगठन का सदस्य बने रहना चाहिए? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर पहली नजर में तो नहीं में दिखाई देता है। किंतु सभी पहलुओं पर ध्यान से विचार हमें एकदम दूसरा मार्ग भी सुझा सकता है। हमारा आग्रह है कि आप विश्व व्यापार संगठन की वेबसाइट : http://www.wto.org पर पहुँचकर इन बातों से जुड़े लेखों पर एक दृष्टि अवश्य डालें।

हाँ, एक बात है–ये पेटेंट सदा सर्वदा के लिए मान्य या वैध नहीं रहते हैं। इनकी वैधता कुछ ही वर्षों तक सीमित रहती है। इस अवधि के बाद अन्य फर्मों को भी उस प्रौद्योगिकी का प्रयोग करने का अधिकार मिल जाता है। इस अवधि को **पेटेंट का जीवन काल** या **पेटेंट-अवधि** कहा जाता है। अधिकांश विकसित देशों में पेटेंट अवधि 15 से 20 वर्ष होती है। आजकल आस्ट्रेलिया में पेटेंट 20 वर्ष मान्य रहते हैं और संयुक्त राज्य अमेरीका में इनकी वैधता की समय सीमा 17 वर्ष ही है। पेटेंट नियमों पर हमारी क्लिप 5.1 पर एक बार फिर नज़र दौड़ाना अब और लाभकारी रहेगा।

(ग) कई बार कुछ फर्में अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखती हैं, फिर भी, वे अपनी गतिविधियों का इस प्रकार संचालन करने लगती हैं, जैसे वे (मिलकर) एकाधिकारी हों। ऐसी बाजार अवस्था को व्यापार गुट (Cartel) की संज्ञा दी जाती है। 1970 के दशक में उदित **तेल निर्यातक देश संघ** (OPEC) ऐसे व्यापार गुट का उदाहरण है जिसने विश्व के तेल बाजार में एकाधिकार जैसी स्थिति की रचना की हुई है। विश्व तेल बाजार और OPEC के एक संक्षिप्त वृत के लिए आप क्लिप 5.2 देख सकते हैं।[3]

क्लिप 6.2

OPEC और विश्व तेल बाजार (परीक्षा अनुपयोगी)

तेल निर्यातक देश संघ के 5 संस्थापक सदस्य थे–ईरान, ईराक, कुवैत, सऊदी अरब और वेनेजुएला। इसका गठन 1960 में हुआ था। कतार 1961 में और 1962 में इंडोनेशिया तथा लीबिया भी इसमें मिल गए। 1967 में संयुक्त अरब अमीरात, 1969 में अल्जीरिया और 1971 में नाइजीरिया इसके सदस्य बने। 1970 के दशक में विश्व को पहला तेल आघात पहुँचाते समय इसके यही 11 सदस्य थे। अब तक इक्वाडोर और गैबन भी इसके सदस्य बन चुके हैं। तेल निर्यातक देश संघ का ध्येय अपने सदस्यों के उत्पादन की सीमाओं (और विश्व उत्पादन में अंश) का इस प्रकार नियमन करना है कि ये विश्व बाजार में पैट्रोल के दामों पर मनमाना नियंत्रण रख सकें।

दुनिया में OPEC देशों के अतिरिक्त अन्य देशों में भी तेल का काफी उत्पादन होता है। उदाहरणार्थ अमेरीका विश्व के बड़े तेल उत्पादकों में से एक है, पर इसकी तेल की खपत और भी अधिक है। अतः यह आयात करता है। भारत भी तेल उत्पादक किंतु आयात करने वाला देश ही है। अतः विश्व के तेल आयात-निर्यात बाजार में 1970 के दशक में OPEC एक एकाधिकारी जैसा ही था।

उन वर्षों में तेल की दुर्लभता ने अनेक देशों को तेल भंडारों की खोज करने के लिए प्रोत्साहित किया। अगले दशक (1980) के मध्य तक कुछ ऐसे देश जो पहले तेल आयात करते थे, विश्व के प्रमुख निर्यातकों की श्रेणी में सम्मिलित हो चुके थे। इनमें शामिल हैं–मेक्सिको, रूस और नीदरलैण्ड।

---

[3] *बाजार में एकाधिकार के उदय का एक अन्य माध्यम है–एक कंपनी का दूसरी में विलय या एक द्वारा दूसरी को हस्तगत (खरीदकर) करना। पिछले दशक (1990) में भारत में पहले चाय उद्योग की दो बड़ी कंपनियों, ब्रुक बाँड और लिपटन का विलय हुआ फिर वह संयुक्त कंपनी भी हिंदुस्तान लीवर में विलीन हो गई। इस प्रकार एकमात्र अन्य बड़ी चाय कंपनी टाटा टी बच गई।*

6.2.1 कुल औसत और सीमांत आगम

एकाधिकारी का ध्येय अपने कुल लाभ को अधिकतम करना है। यह कुल लाभ कुल आगम और कुल लागतों के अंतर द्वारा परिभाषित होता है। एकाधिकारी की लागतों की संरचना प्रतियोगी फर्मों जैसी ही होती है। उन पर भी कुल लागत, औसत लागत और सीमांत लागत की अवधारणाएँ प्रतियोगी फर्मों जैसी ही होती हैं। इनके लागत वक्रों का आकार भी वैसा ही रहता है पर एकाधिकारी की आगम की रचना और आकार बहुत भिन्न होता है।

आपको ध्यान होगा कि एक पूर्ण प्रतियोगी फर्म सारे बाजार की तुलना में बहुत ही छोटी होती है, उसका बाजार पर कोई ज़ोर नहीं चलता (उसके पास बाजार पर नियंत्रण करने की कोई शक्ति नहीं होती)। इस कारण वह बाजार द्वारा नियत कीमतों की स्वीकारक बनी रहती है। किंतु एकाधिकारी के विषय में ये सभी बातें बेकार हो जाती हैं। वह तो परिभाषा के अनुसार ही बाजार का एकमात्र उत्पादक है। इसका बाजार पर अधिकार होता है और ये कीमत निर्धारक होता है (बाजार अधिकार ही इसकी कीमत निर्धारण क्षमता का स्रोत है)। ये ही एकाधिकारी और प्रतियोगी फर्मों के बीच का सबसे बड़ा अंतर भी है। इसी के कारण उत्पादन के साथ कुल आगम में परिवर्तनों का स्वरूप पूर्ण प्रतियोगी फर्म से एकदम अलग हो जाता है। प्रतियोगी फर्म के लिए तो उत्पादन वृद्धि होने पर भी कीमत अपने पूर्व स्तर पर ही जमी रहती थी। किंतु एकाधिकारी का सामना बाजार के एक लघु अंश से नहीं होता। उसके सामने तो पूरा बाजार होता है। अत: बाजार माँग वक्र ही उसके निजी माँग वक्र के तुल्य होता है। परिणामस्वरूप उत्पादन वृद्धि के बाद भी वह पुरानी कीमत पर ही अपना माल नहीं बेच पाता। उसे वही कीमत स्वीकार करनी होगी जो उपभोक्तागण उस माँग वक्र पर किसी नए उत्पादन स्तर पर चुकाने को तैयार हों। दूसरे शब्दों में **एकाधिकारी के मार्ग का सबसे बड़ा संरोध उसके उत्पादन का माँग वक्र ही होता है।** इस बात को बहुत अच्छी तरह से समझ लेना उपयोगी रहेगा।

कल्पना कीजिए कि बाजार माँग सारणी तालिका 6.1 में दिखाई गई सारणी जैसी है। एकाधिकारी को इस सारणी का सामना करना पड़ता है। अत: अगर वह 4 इकाई उत्पादन बेचना चाहे तो उसे कीमत के रूप में 7 रुपए ही स्वीकार करने होंगे। यदि वह 7 रुपए से अधिक दाम वसूलना चाहे तो 4 इकाइयाँ बेच नहीं पाएगा। यही नहीं, 4 इकाई की बिक्री के लिए वह आसानी से 7 रुपया प्रति इकाई पा सकता है, क्योंकि बाजार माँग वक्र के अनुसार इस कीमत पर 4 इकाइयों की माँग हो रही है। अत: उसके पास 7 रुपए प्रति इकाई से कम कीमत पर अपना माल बेचने का कोई कारण नहीं होता। इसी प्रकार के तर्कों द्वारा हम समझ सकते हैं कि यदि एकाधिकारी 5 इकाई उत्पादन बाजार में बेचना चाहे तो फिर वह 5 रुपए प्रति इकाई कीमत वसूल कर पाने में ही सफल होगा। यही क्रम चलता रहेगा। उत्पादन बढ़ाने पर उसे कीमत कम करनी पड़ेगी।[4]

---

[4] *अत: जैसे कि अर्थशास्त्र के ज्ञान से रहित कई बार दावा करते हैं कि एकाधिकारी मनमानी कीमतें वसूल करते हैं के विपरीत बाजार पर नियंत्रण शक्ति होते हुए भी एकाधिकारी अपनी मनमर्जी नहीं चला पाते। यदि उनका माँग वक्र पूरी तरह से ऊर्ध्वाकार होता तो यह बात भी संभव हो जाती। किंतु वह तो तभी होता जब उसके उत्पादन का कोई भी प्रतिस्थापक नहीं होता। वास्तव में प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई प्रतिस्थापक निकल ही आता है।*

तालिका 6.1
एकाधिकारी की माँग सारणी

कीमत (रुपए)	माँग की मात्रा (इकाइयाँ)
1	7
3	6
5	5
7	4
9	3
11	2
13	1
15	0

हम तालिका 6.1 की इसी जानकारी को उल्टे क्रम (व्युत्क्रम) में भी लिख सकते हैं। फिर तो माँगी गई मात्रा के स्थान पर **उत्पादन** या मात्रा लिखना पर्याप्त होगा और हम उसी माँग सारणी को मात्रा के वृद्धि क्रम में लिख पाएँगे। इसी के अनुरूप कीमतों की तालिका को ह्रासक्रम में लिखा जा सकता है। तालिका 6.2 में हमने पहले दो स्तंभों में क्रमशः यही किया है पहले में माँग की मात्रा या उत्पादन तथा दूसरे में कीमत के विभिन्न स्तर दिखाए हैं। उत्पादन और कीमत का गुणनफल ही हमें कुल आगम या (TR = P × उत्पादन) प्रदान करता है। कुल आगम को उत्पादन से भाग करके हम औसत आगम (AR) पर पहुँचते हैं (AR = TR × उत्पादन) दूसरे शब्दों में औसत आगम कीमत के समान होता है (P = AR)।[5] अतः स्तंभ 4 की जानकारी मूल रूप से दूसरे स्तंभ की जानकारी की पुनरावृत्ति ही है। आपको अध्याय 5 से यह भी ध्यान होगा कि सीमांत आगम (MR) एक अतिरिक्त इकाई की बिक्री से कुल आगम में हुई वृद्धि होता है। यही MR अंतिम स्तंभ में दिखाया गया है।

तालिका 6.2
एकाधिकारी के TR, AR

उत्पादन	कीमत (रु.)	TR (रु.)	AR (रु.)	MR (रु.)
0	15	0	–	–
1	13	13	13	13
2	11	22	11	9
3	9	27	9	5
4	7	28	7	1
5	5	25	5	–3
6	3	18	3	–7
7	1	7	1	–11

इन तीनों आगम अवधारणाओं की ये विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं–

(1) उत्पादन बढ़ाने पर MR कम होता जाता है। प्रारंभ में यह धनात्मक है पर आगे चलकर ऋणात्मक भी हो जाता है।

(2) TR में वृद्धि या कमी होती है पर यह MR के धनात्मक या ऋणात्मक होने से जुड़ी है।

(3) उत्पादन वृद्धि के साथ शुरू में TR में भी वृद्धि होती है पर बाद में यह कम होने लगती है। अतः अगर TR का उत्पादन अक्ष पर चित्रांकन करें तो इसका रेखाचित्र शुरू में ऊपर उठेगा और फिर इसमें कमी आने लगेगी।[5] इसका कारण प्रारंभ में MR का धनात्मक रहना तथा बाद में ऋणात्मक हो जाना है। यही नहीं, इसका एक अर्थ यह भी है कि यदि उत्पादन को एक अविच्छिन्न पैमाने पर मापा जाए तो TR उस बिंदु पर अपने उच्चतम स्तर पर होगा जहाँ MR = 0। अतः एकाधिकारी फर्म का TR वक्र प्रतियोगी फर्म के TR से बहुत ही अलग तरह का होता है

[5] *यह बात उत्पादन = 0 के अतिरिक्त अन्य सभी बिंदुओं पर मान्य रहती है।*

(प्रतियोगी फर्म का TR तो अक्ष केंद्र से प्रारंभ हो दाहिनी ओर उठती हुई सरल रेखा ही था)।

(4) हम जानते हैं कि AR = P। अत: AR वक्र फर्म के माँग वक्र के समान ही होगा।

(5) उत्पादन की पहली इकाई के अतिरिक्त प्रत्येक उत्पादन स्तर पर MR < AR । इसका आधार औसत और सीमांत के बीच संबंध की वह व्याख्या है जिसे हमने अध्याय 3 में समझा था। उसके अनुसार यदि औसत में गिरावट (वृद्धि) हो रही हो तो सीमांत औसत से कम (अधिक) रहता है।

(क)

(ख)
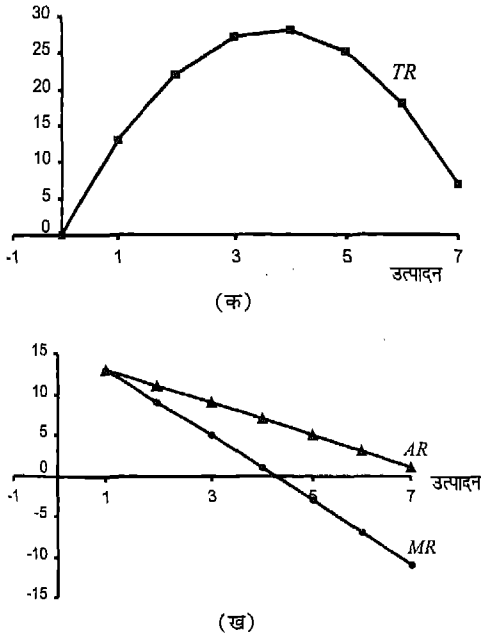
चित्र 6.2 : तालिका 6.2 के अनुरूप TR, AR और MR वक्र

चित्र 6.2 के भाग (क) और (ख) में क्रमश: TR, AR और MR के रेखाचित्र बनाए गए हैं। ये सभी रेखाचित्र तालिका 6.2 के आधार पर बने हैं। TR वक्र का आकार उल्टे U अक्षर जैसा है क्योंकि ये शुरू में ऊपर उठता है पर कुछ समय बाद इसमें गिरावट आनी आरंभ हो जाती है।

(ख)
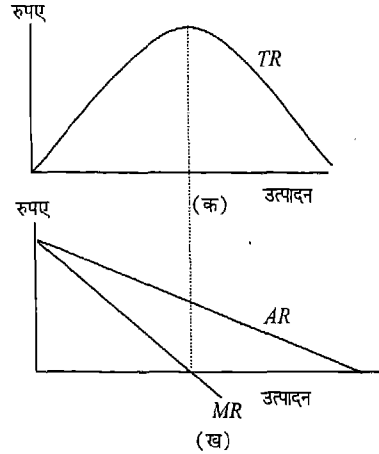
चित्र 6.3 : अविछिन्न TR, AR और MR वक्र

चित्र 6.3 में हमने काल्पनिक अविछिन्न TR तथा उससे जुड़े AR और MR वक्र बनाए हैं। आप ध्यान दें–जहाँ TR अपने उच्चतम स्तर पर पहुँचता है वहीं (उसी उत्पादन स्तर पर) MR का मान शून्य हो जाता है, MR वक्र उत्पादन अक्ष को काटकर उससे नीचे चला जाता है।

6.2.2 लाभ को अधिकतम करने का नियम

एकाधिकारी फर्म के लाभ अधिकतम करने के व्यवहार या उत्पादन संतुलन का पूर्ण विश्लेषण तो हमारे इस पाठ्यक्रम की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाएगा। किंतु उस विश्लेषण का निचोड़ अर्थात अधिकतम लाभ की कसौटी हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

(क) MR = MC

अर्थात एकाधिकार उस बिंदु पर उत्पादन करके जहाँ उसका सीमांत आगम सीमांत लागत के समान हो जाता है (MR = MC), अपने लाभ को अधिकतम कर पाने में सफल रहता है।

वास्तव में यह अधिकतम लाभ की शर्त बहुत ही व्यापक पटल पर मान्य होती है (हमने अध्याय 4 में भी इसके दर्शन किए थे)। आपको ध्यान होगा एक प्रतियोगी फर्म के लिए P = MC वास्तव में MR = MC शर्त का एक स्वरूप विशेष ही होता है।

यह शर्त (क) बहुत आसानी से समझ आने वाले तर्क पर आधारित है। उत्पादन के बहुत निम्न स्तर पर MR का मान MC से अधिक होता है। हम जानते ही हैं कि ये दोनों क्रमश: अतिरिक्त आगम और अतिरिक्त लागत के समान होते हैं। अत: जब तक MR > MC, उत्पादन में कुछ और वृद्धि से फर्म की कुल आगम में वृद्धि ही होगी। वह वृद्धि उत्पादन के कारण कुल लागत में हुई बढ़ोतरी से अधिक रहेगी। इसका अर्थ होगा कि उत्पादन बढ़ाने पर फर्म के लाभ में वृद्धि होगी। दूसरी ओर, उत्पादन के बहुत ऊँचे स्तर पर सीमांत लागत बहुत कम (कदाचित ऋणात्मक भी) होगी। इसका अर्थ होगा कि फर्म उत्पादन में कटौती कर दे तो लागतों में बचत आगम से अधिक होगी। इसके परिणामस्वरूप फर्म के लाभ में वृद्धि हो जाएगी। अत: दोनों ओर (अधिक उच्च तथा बहुत निम्न उत्पादन स्तरों) से चल कर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि लाभ उसी समय अधिकतम होगा जब कि MR = MC।

6.2.3 एकाधिकार बनाम पूर्ण प्रतियोगिता

पूर्ण प्रतियोगिता से तुलना करते हुए एकाधिकार के ये सामान्य और महत्त्वपूर्ण विशेष लक्षण दिखाई देते हैं–

1. आपको ध्यान होगा कि पूर्ण प्रतियोगिता में लाभ को अधिकतम करने की प्रक्रिया में हम आपूर्ति वक्र की रचना करने में सफल हो गए थे। अर्थात हम यह तय कर पाए थे कि दी हुई कीमतों पर फर्म कितना उत्पादन करेगी। किंतु एकाधिकारी फर्म तो उत्पादन और कीमत का स्वयं निर्धारण करती है। यहाँ विभिन्न कीमतों पर एकाधिकारी अभीष्ठतम उत्पादन स्तर के निर्धारण का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: **एकाधिकारी के किसी आपूर्ति वक्र का अस्तित्व ही नहीं होता।** इससे यह अभिप्राय नहीं है कि माँग और आपूर्ति के बीच किसी प्रकार का अंतर्संबंध नहीं होगा। माँग वक्र (AR) और MC के स्थान परिवर्तनों का एकाधिकार उत्पादन और कीमत पर प्रभाव पड़ता है।
2. पूर्ण प्रतियोगिता के अल्पकाल और दीर्घकालिक व्यवहार में भारी अंतर होते हैं। हम जानते ही हैं कि दीर्घकाल में कोई लागत स्थिर नहीं रहती। अत: अल्प एवं दीर्घकालिक लागत वक्रों में अंतर होता है। साथ ही बाजार में स्वतंत्र रूप से आगमन और निकासी की **सुविधा** भी दीर्घकाल में लाभ को शून्य तक पहुँचा देती है। इसके विपरीत एकाधिकार में तो परिभाषा के अनुसार ही आगमन और निकासी का निषेध रहता है। अत: एकाधिकार की दशा में अल्पकाल और दीर्घकाल के व्यवहार में कोई विशेष विश्लेषणात्मक अंतर नहीं रहता।[6]
3. अब हम एकाधिकारी और प्रतियोगी फर्म के व्यवहार के सबसे महत्त्वपूर्ण अंतर की बात पर आ रहे हैं। हम जानते ही हैं कि एकाधिकारी के

[6] *वैसे प्राय: यह संभावना तो बनी ही रहती है कि अच्छा खासा समय बीतने पर एकाधिकारी अपनी एकाधिकार की शक्तियाँ खो बैठेगा। यदि एकाधिकार किसी पेटेंट पर आधारित हो तो पेटेंट अवधि की समाप्ति पर और फर्म भी उन तकनीकों का प्रयोग प्रारंभ कर प्रतियोगिता शुरू कर सकती है। अत: मुख्य बात यही होगी कि जब तक एकाधिकार बना हुआ है, अल्पकालिक और दीर्घकालिक कीमत तथा उत्पादन के स्तर के निर्धारण में कोई विश्लेषणात्मक अंतर नहीं होता।*

लिए कीमत सीमांत आगम से अधिक रहती है, $P > MR$ तथा वह ऐसे बिंदु पर उत्पादन करना तय करता है जहाँ $MR = MC$। इन दोनों संबंधों को मिलाने पर हमें यह पता चल जाता है कि एकाधिकारी के संतुलन की दशा में उसके उत्पादन की बाजार कीमत उसकी सीमांत लागत से अधिक होगी अर्थात् $P > MC$। अत: **जबकि पूर्ण प्रतियोगिता में कीमत सीमांत लागत के समान होती है, एकाधिकार में सीमांत लागत से अधिक रहती है**। किसी न किसी रूप से इसका अर्थ यह भी हो जाता है कि **एकाधिकारी अपने उत्पादन के लिए बहुत ऊँची कीमत वसूल करता है**। यही नहीं, एकाधिकारी की कीमत प्रतियोगी कीमत से अधिक होती है। अत: किसी भी दी हुई माँग वक्र के आधार पर यह फर्म अपेक्षाकृत कम उत्पादन कर उसे बाजार में बेचेगी। अत: हम कह सकते हैं कि **एकाधिकारी प्रतियोगी फर्म की तुलना में कम उत्पादन कर उसे ऊँचे दामों पर बेचता है।**

यह अंतिम निष्कर्ष संक्षेप में वे सभी बातें कह जाता है जिन्हें एकाधिकार की बुराइयों का नाम भी दिया जा सकता है। यही बातें एकाधिकारी के विरुद्ध समय-समय पर उभरती हुई भावनाओं का आधार है। इन्हीं के कारण कहा जाता है कि एकाधिकार जन सामान्य का शोषण करता है। इसीलिए उसे नियंत्रित और हतोत्साहित किया जाना चाहिए।

6.2.4 एकाधिकार के लाभ

किंतु एकाधिकारी के विषय में उपर्युक्त निष्कर्ष को पूरी तरह से स्वीकार करने से पहले हमें यह देख लेना चाहिए कि इस व्यवस्था में कुछ अच्छाइयाँ भी होती हैं।

1. कल्पना करते हैं कि शुरू में किसी उद्योग में दो फर्में थीं और दोनों ही कदाचित् अकुशलतापूर्वक काम कर रहीं थीं। इस कारण उनकी सीमांत लागतें उच्च बनी हुई थीं और वे कम उत्पादन कर अधिक ऊँची कीमत पर उसे बेच रहीं थी (यदि दक्षतापूर्वक कार्य होता तो उनकी सीमांत लागतें कम रहतीं, वे अधिक उत्पादन कर कम कीमतों पर बेच पातीं)। उन्हें यह अनुभूति हो जाती है कि वे मिलकर एक हो जाएँ (उनका विलय हो जाए) तो उनकी उत्पादन लागत में कमी आ सकती है। हो सकता है कि एक फर्म के पास तकनीकी ज्ञान तो उत्कृष्ट हो पर उसकी विपणन क्षमताएँ सीमित हों, जबकि दूसरी के पास बहुत अच्छे तकनीकी व्यक्ति भले ही नहीं हों पर उसका विपणन-तंत्र बहुत सक्षम हो सकता है। इस प्रकार की फर्में विलय कर लें तो उससे बनी एकाधिकारी फर्म के दोनों पक्ष, तकनीकी एवं विपणन, बहुत कुशल होंगे। ये न्यूनतर MC पर काम करने वाली सुदक्ष फर्म बन जाएगी। इसके कारण ये एकाधिकारी फर्म स्वयं ही पहले दोनों फर्मों द्वारा उत्पादित स्तर से अधिक माल बना कर, पहले से कम दामों पर बेचने को तैयार रहेंगी। यह एकाधिकार का एक सद्गुण होगा।

इसका दूसरा आयाम भी है। इस प्रकार बनी एकाधिकारी फर्म का बाजार पर कड़ा नियंत्रण होगा। वह एकाधिकारी कीमत वसूलने का प्रयास भी कर सकती है। हम जानते हैं कि ये एक बुराई होगी। अत: उत्पादन में दक्षता तथा बाजार पर नियंत्रण क्षमता में बीच समप्रत्ययन (Trade off) की समस्या बनी रहेगी। यदि दक्षता वृद्धि से हुए लाभ अधिक सशक्त हों तो समाज का हित साधन करने में एकाधिकारी अधिक कुशल होगा। ऐसी दशा में एकाधिकारी का स्वागत होना चाहिए।

भारत सहित अनेक देशों ने एकाधिकार विरोधी कानूनों को लागू किया हुआ है। ये सभी

एकाधिकारी की बुराइयों पर नियंत्रण करने के ध्येय से बनाए गए हैं। इन कानूनों के अंतर्गत उन सभी प्रकार के विलय, अधिग्रहण और व्यावसायिक गतिविधियों की छूट रहती है जिनके दक्षता मूलक प्रभाव बहुत सशक्त हों। साथ ही ये उन गतिविधियों को सीमित करते हैं जिनके कारण दक्षता में नाममात्र वृद्धि किंतु बाजार पर नियंत्रण की संभावना अधिक बलवती होती है।[7]

2. एकाधिकार की अनुमति देने का एक अन्य मुख्य लाभ यह भी है—एकाधिकारी शक्तियों और लाभ की प्रेरणा से फर्म आविष्कार और नव-प्रवर्तन करने को प्रोत्साहित होती है। वास्तव में इन कार्यों में बहुत जोखिम रहता है। अक्सर बहुत समय तक सतत् परीश्रम और लगन ही शोध-प्रवर्तन में सफलता दिला पाती है। यदि किसी को अपने इस प्रयास से कुछ समय तक भी लाभान्वित होने (एकाधिकारी लाभ कमाने) का अवसर नहीं दिया जाता तो फिर कौन इतना सिर खपाएगा। वास्तव में पेटेंट सुरक्षा व्यवस्था (जिसके बारे हमने इसी अध्याय में पहले चर्चा की थी) इसी तथ्य पर आधारित है।

इन दोनों सद्गुणों के प्रकाश में एकाधिकारी बाजार की आधारभूत विशेषता (कि कीमत सीमांत लागत से अधिक होती है) का अर्थ यही है कि एकाधिकारियों के प्रति आर्थिक नीतियों का निर्धारण बहुत सोच विचार कर करना चाहिए। सामान्यत: **सभी एकाधिकार बुरे हैं** की भावना अधिक लोकप्रिय पाई जाती है, पर इस कारण से नीति निर्धारण में विवेक को तिलांजली नहीं दी जानी चाहिए।

6.3 एकाधिकारी प्रतियोगिता

यह एक बहुत ही रुचिकर बाजार संरचना है। इसमें एकाधिकारी और प्रतियोगी तत्वों का **सहअस्तित्व** रहता है। इसकी तीन प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—(क) उत्पादकों/विक्रेताओं तथा उपभोक्ता/क्रेताओं की संख्या बड़ी होती है, (ख) दीर्घकाल में बाजार में प्रवेश और उससे निकासी पर प्रतिबंध नहीं होते। साथ ही (ग) यहाँ उत्पाद में कुछ न कुछ **विभेद** अवश्य रहता है। इसका अर्थ यही है कि प्रत्येक फर्म एक ब्रांड नाम के साथ (मूलतः एक जैसी) वस्तु, का उत्पादन करती है और अपने उत्पाद को अन्य सभी प्रतियोगियों के उत्पादन से **अलग** या अनूठा बताती है। सभी फर्मों के उत्पादनों को हम एक-दूसरे का बड़ा निकटस्थ प्रतिस्थापक मान सकते हैं। इसके अनेक उदाहरणों में टूथपेस्ट, साबुन, लिपिस्टिक आदि प्रमुख हैं।[8]

इनमें से पहले दो लक्षण, (क) और (ख) प्रतियोगी स्वरूप के परिचायक हैं। (क) के अनुसार प्रत्येक फर्म का आकार बाजार से काफी छोटा रह जाता है। (ख) का अर्थ होगा कि फर्म दीर्घकाल में शून्य असामान्य लाभ ही आर्जित कर पाएगी। किंतु तीसरा लक्षण (ग) किसी न किसी रूप में एकाधिकार सूचक हो जाता है। बेशक फर्म छोटी ही है और इसके उत्पादन के निकट प्रतिस्थापक भी विद्यमान हैं, किंतु इसका उत्पादन अपने आप में **अनूठा** है। अन्य

---

[7] *इस दृष्टि से भारत का एकाधिकारी एवं प्रतिबंधकारी व्यावसायिक गतिविधियाँ अधिनियम 1969 एक बहुत ही उत्कृष्ट एकाधिकार विरोधी कानून रहा है।*

[8] *इस पुस्तक की रचना के समय भारत में 7 प्रमुख ब्रांड की लिपिस्टिक बिक रही थीं—एवन, ऐले, लक्मे, लोरियल, मेबेलीन, रेवलोन तथा टिप्स एंड टोज़। टूथपेस्ट के ब्रांड तो और भी अधिक थे—फ्रेश, एंकर, अयूर, बबूल, सिबाका, क्लोजअप, कोलगेट, फॉरहंस, मिस्वाक, नीम, पेप्सोडेंट, प्रॉमिस, और विक्को वज्रदंती।*

कोई उत्पादक एकदम वही चीज़ नहीं बना सकता। इसी दृष्टि से फर्मों को कुछ न कुछ एकाधिकारी शक्ति प्राप्त रहती है।

इस (सीमित) एकाधिकारी शक्ति के परिणाम-स्वरूप इन एकाधिकारी प्रतियोगी फर्मों के समक्ष भी AR तथा MR वक्र उपस्थित रहते हैं। ये भी अपने अपने ब्रांड के उत्पादन को MR = MC स्तर तक ले जाकर लाभ के स्तर को उच्चतम करने का प्रयास करती हैं। इनकी कीमतें भी सीमांत लागतों से अधिक रहती हैं।

विश्लेषण की दृष्टि से इनकी स्थिति एकाधिकारी जैसी ही रहती है, बस एक महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है– यहाँ निकट प्रतिस्थापक सहज सुलभ होते हैं। इसी कारण से एकाधिकारी प्रतियोगी की माँग वक्र में लोचशीलता बहुत अधिक पाई जाती है (एकाधिकारी का माँग वक्र अधिक लोचशील नहीं होता)। इसका अर्थ होगा कि यहाँ AR वक्र का ढाल बहुत कम होगा।

किंतु दीर्घकाल में एकाधिकारी और एकाधिकारी प्रतियोगी में एक और बड़ा अंतर आ जाता है– एकाधिकार के विपरीत यहाँ बाजार में प्रवेश और निकासी की स्वतंत्रता के कारण असामान्य लाभ का स्तर शून्य हो जाता है। इसका अभिप्राय: हम पहले से ही जानते हैं–यहाँ इसका अर्थ P = LAC है। अत: अधिकतम लाभ की शर्त MR = LMC के साथ मिलाकर हम एकाधिकारी प्रतियोगिता को दीर्घकालीन संतुलन शर्तों को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं–

$$MR = LMC$$

$$P = LAC$$

यद्यपि एकाधिकारी प्रतियोगिता में पूर्ण प्रतियोगिता और एकाधिकार के लक्षणों का समावेश है, किंतु इसकी निर्णय प्रक्रिया में एक विलक्षणता भी है, जो इसे उन दोनों प्रतिमानों से **अलग** बना देती है। ये विशेषता है **विज्ञापन** की। एकाधिकारी प्रतियोगी फर्म अपने उत्पादन का प्रचार, विज्ञापन बहुत करती है। इसके कारण उनकी कुल लागत में **विज्ञापन लागतें** या **विपणन लागतें** भी शामिल हो जाती हैं। ये लागतें लगाना इन फर्मों की एक **विवशता** है। इन्हें लगातार संभावित ग्राहकों के मन में ये धारणा बनानी पड़ती है कि इनका उत्पादन ही अन्य सभी की तुलना में बेहतर और **अनूठा** है। यह **विश्वासोत्पादक विज्ञापन** है। इसका ध्येय अन्य ब्रांडों से ग्राहकों को अपनी ओर आकृष्ट करना है। पूर्ण प्रतियोगिता में तो सभी के द्वारा निर्मित वस्तुएँ समरूप होती हैं। अत: वहाँ विश्वासोत्पादक विज्ञापन की कोई संभावना नहीं रहती। एकाधिकार में प्रतियोगिता ही नहीं होती फिर विश्वासोत्पादक विज्ञापनों में उलझने का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

ये बात ध्यान रहे कि इस प्रकार की विपणन लागतों से उपभोक्ता वर्ग का कोई हितसाधन नहीं होता। ये ग्राहकों को एक ब्रांड से दूसरे तक ही खींचने का काम करते हैं। पर इन पर भी संसाधनों का व्यय होता है। संभवत: उन्हें उत्पादन वृद्धि पर भी खर्च किया जा सकता था। अत: इस प्रकार की लागतों को सामाजिक दृष्टि से साधनों की बर्बादी माना जाता है।[9]

इसी के साथ हम बाजार संरचना विषयक अपनी चर्चा का समापन कर रहे हैं। जैसा कि हमने इस अध्याय के आरंभ में ही कहा था, अपूर्ण प्रतियोगी प्रतिमानों में से एक महत्त्वपूर्ण प्रतिमान अल्पाधिकार पर हम यहाँ पाठ्यक्रम की सीमाओं के कारण विचार नहीं कर पा रहे हैं। फिर भी, इस बारे में थोड़ी सी जानकारी क्लिप 6.3 में देने का प्रयास किया जा रहा है।

[9] *वैसे सभी विज्ञापन लागतें बर्बादी नहीं होतीं। जहाँ तक उपभोक्ता के लिए उपयोगी जानकारी के प्रसारण (स्वास्थ्य संबंधी आदि) हो रहा हो, विज्ञापन भी उपयोगी हो सकते हैं।*

विषय 6.3

अल्पाधिकार (परीक्षा अनुपयोगी)

जिस बाजार में इने-गिने, पर, बड़े उत्पादक ही हों, उसे अल्पाधिकारी बाजार कहा जाता है। ये फर्में समरूप या विभेदित उत्पादन कर सकती हैं। यदि किसी विशेष दशा में केवल दो ही फर्में मौजूद हों तो उसे हम द्वैधाधिकारी बाजार भी कह देते हैं। विश्लेषणात्मक दृष्टि से यह व्यवस्था अन्य बाजार प्रतिमानों से विलक्षण हो जाती है। इसमें फर्मों के व्यवहार में युक्ति कौशल संपन्न पारस्परिकता स्पष्ट दिखाई देती है। यहाँ कुछ ही फर्में बाजार में होती हैं। इस कारण से, प्रत्येक फर्म अपने उत्पादन या कीमत निर्धारण के 'गणित' में प्रतिद्वंद्वियों की गणनाओं का पूर्वाकलन कर उनके 'प्रत्युतर' स्वरूप अपना चयन 'सुनिश्चित' करती है। इस प्रकार की बाजार व्यवस्था का अध्ययन बहुत रोचक होता है, किंतु उसके लिए आपको अर्थशास्त्र के किसी उच्च पाठ्यक्रम तक प्रतीक्षा करनी होगी। यहाँ बस इतना ही।

सार संक्षेप

☞ अपूर्ण प्रतियोगी बाजार तीन प्रकार के होते हैं–एकाधिकारी, एकाधिकारी प्रतियोगिता और अल्पाधिकारी।

☞ दीर्घकालिक लाभ अधिकतम करने की कसौटी अल्पकालिक कसौटी जैसी ही रहती है। पूर्ण प्रतियोगी फर्म के लिए कि यह शर्त कीमत का दीर्घकालिक सीमांत लागत के समान होना है।

☞ बाजार में स्वतंत्रतापूर्वक आगमन/निकासी का अर्थ होता है–शून्य लाभ। कीमत दीर्घकालिक औसत लागत के समान रहती है। फर्म अपनी सभी लागतें पूरी कर पाती है। वह समकारी बिंदु पर कार्य करती है।

☞ दीर्घकालिक प्रतियोगी संतुलन की दोहरी शर्त है–P = LMC = LAC

☞ प्रवेश निकासी की स्वतंत्रता वाले बाजार में प्रतियोगी फर्म दीर्घकाल में उस स्तर पर कार्य करती है जहाँ इसकी दीर्घकालिक औसत लागत न्यूनतम रहती है।

☞ एकाधिकारी बाजार संरचना का उदय लाइसेंस, पेटेंट्स के पंजीकरण या फिर व्यापार-गुट के गठन से होता है।

☞ एकाधिकारी कीमत निर्धारक होता है।

☞ एकाधिकारी फर्म के समक्ष उसके उत्पादन का माँग वक्र ही एक संरोध बन जाता है।

☞ एकाधिकारी फर्म के TR में पहले तो उत्पादन के साथ बढ़ोतरी होती है, पर आगे चलकर इसमें कमी आने लगती है।

☞ एकाधिकारी फर्म का TR उस उत्पादन बिंदु पर अधिकतम होता है जहाँ उसका MR = 0 हो।

☞ एकाधिकारी फर्म का MR उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ घटता जाता है।

☞ MR = MC वास्तव में सभी प्रकार की फर्मों के लिए एक सामान्य रूप से मान्य अधिकतम लाभ की कसौटी है।

☞ पूर्ण प्रतियोगिता के विपरीत एकाधिकारी की कीमत सीमांत लागत से अधिक होती है।

☞ पूर्ण प्रतियोगी उद्योग की तुलना में एकाधिकारी अधिक कीमत वसूल करता है और कम उत्पादन बेचता है।

☞ किन्हीं दशाओं में एकाधिकार की रचना लागतें घटाकर उत्पादन में दक्षता में वृद्धि कर सकती है।

☞ पेटेंटों से आविष्कारों और परिष्कारों को बढ़ावा मिलता है।

☞ एकाधिकारी प्रतियोगी फर्म का (अपने ब्रांड के लिए) माँग वक्र बहुत लोचशील होता है।

☞ एकाधिकारी प्रतियोगिता में दीर्घकालिक संतुलन की शर्ते हैं–MR = LMC तथा P = LAC ।

☞ एकाधिकारी प्रतियोगी फर्मों को अन्य ब्रांडों के ग्राहकों को लुभाकर अपने उत्पादन की ओर आकर्षित करने के लिए विज्ञापनों पर खर्च करना पड़ता है।

▶▶▶ अभ्यास ◀◀◀

भाग-1

6.1 अपूर्ण प्रतियोगी बाजार की तीन संरचनाओं के नाम बताएँ।

6.2 प्रतियोगी फर्म की दीर्घकालिक अधिकतम लाभ की शर्त क्या है?

6.3 असामान्य लाभ का क्या अर्थ है?

6.4 असामान्य हानि का क्या अर्थ है?

6.5 यदि वर्तमान फर्में असामान्य लाभ कमा रही हों तो उद्योग में फर्मों की संख्या पर क्या प्रभाव होगा?

6.6 यदि वर्तमान फर्मों को असामान्य हानि उठानी पड़ रही हो तो उद्योग में फर्मों की संख्या में किस प्रकार का परिवर्तन होगा

6.7 दीर्घकालिक प्रतियोगी संतुलन में सीमांत और औसत लागतों का क्या संबंध रहता है?

6.8 पूर्ण प्रतियोगी उद्योग में दीर्घकालिक संतुलन की शर्तें बताइए।

6.9 समकारी-बिंदु क्या होता है?

6.10 दीर्घकालिक पूर्ण प्रतियोगी संतुलन की दशा में समकारी कीमत तथा सीमांत लागत में क्या संबंध होता है?

6.11 दीर्घकालिक संतुलन की दशा में पूर्ण प्रतियोगी फर्म अपने दीर्घकालिक औसत लागत वक्र के किस बिंदु पर उत्पादन करेगी?

6.12 एकाधिकारी बाज़ार में फर्मों की संख्या कितनी रहती है?

6.13 पेटेंट अधिकार क्या होते हैं?

6.14 पेटेंट अवधि या पेटेंट का जीवन काल क्या होता है?

6.15 व्यापार गुट क्या होता है?

6.16 सीमांत आगम धनात्मक होने पर उत्पादन के साथ कुल आगम में किस प्रकार परिवर्तन आता है?

6.17 सीमांत आगम ऋणात्मक होने पर उत्पादन के साथ कुल आगम कैसे परिवर्तित होती है?

6.18 एकाधिकारी बाजार में औसत आगम और माँग वक्र में क्या संबंध होगा?

6.19 एकाधिकारी फर्म की अधिकतम लाभ की शर्त क्या होगी?

6.20 एकाधिकारी के कुल आगम वक्र का आकार कैसा होता है?

6.21 एकाधिकारी के औसत आगम वक्र का आकार कैसा होता है?

6.22 एकाधिकार में सीमांत आगम का आकार कैसा रहता है?

6.23 एकाधिकारी के लिए लाभ अधिकतम होने का नियम क्या है?

6.24 एकाधिकारी के संतुलन स्तर पर कीमत और सीमांत लागत में क्या संबंध होता है?

6.25 एकाधिकार में संतुलन कीमत और उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता के संतुलन कीमत उत्पादन से कैसे भिन्न होते हैं?

6.26 संगुट (trust) विरोधी कानून क्या होते हैं?

6.27 एकाधिकारी प्रतियोगिता के कौन से लक्षण एकाधिकारी जैसे होते हैं?

6.28 एकाधिकारी प्रतियोगिता के कौन से लक्षणों की प्रकृति प्रतियोगी होती है?

6.29 एकाधिकारी प्रतियोगिता बाजारों के दो उदाहरण दें।

6.30 एकाधिकारी प्रतियोगिता वाले उद्योग में दीर्घकालिक संतुलन की शर्तें बताएँ।

6.31 एकाधिकारी प्रतियोगी बाजार में कीमत और सीमांत लागत का संबंध क्या होता है?

6.32 विक्रय लागतें क्या होती हैं?

6.33 विज्ञापन लागतें क्या होती हैं?

6.34 विश्वासोत्पादक विज्ञापन करना क्या होता है?

भाग-2

6.35 समझाइए की दीर्घकाल में प्रतियोगी उद्योग में स्वतंत्र प्रवेश और निकासी असामान्य लाभों को शून्य कैसे कर देती है?

6.36 बताइए कि एकाधिकारी फर्म का सीमांत आगम औसत आगम से कम क्यों रहता है?

6.37 एकाधिकारी फर्म के लिए माँग वक्र ही संरोध कैसे बन जाता है?

6.38 उन विधियों/प्रक्रियाओं की व्याख्या करें जिनके कारण एकाधिकार अस्तित्व में आ जाता है?

6.39 दो फर्मों के विलय से दक्षता में वृद्धि कैसे संभव हो सकती है।

6.40 पेटेंट अधिकारों का अनुमोदन किस ध्येय से किया जाता है?

6.41 एकाधिकारी प्रतियोगी के लक्षणों की संक्षिप्त व्याख्या करें।

6.42 एकाधिकारी प्रतियोगी फर्म का माँग वक्र बहुत लोचशील क्यों रहता है

6.43 समझाइए कि एकाधिकार और एकाधिकारी प्रतियोगिता में कीमत लागत से अधिक कैसे हो जाती है?

6.44 समझाइए कि दीर्घकाल में निर्बाध प्रवेश/निकासी के कारण एकाधिकारी प्रतियोगी फर्म के असामान्य लाभ शून्य कैसे हो जाते हैं?

भाग-3

6.45 एक फर्म का माँग वक्र निम्न तालिका में दिया गया है। इसकी TR, AR और MR सारणियाँ बनाइए।

कीमत (रुपए)	मात्रा (रुपए)
0	8
10	7
20	6
30	5
40	4
50	3
60	2
70	0

6.46 किसी एकाधिकारी फर्म MR की सारणी दी जा रही है। उसकी TR और AR सारणियाँ बनाइए।

उत्पादन इकाइयाँ	MR (रुपए)
0	-
1	14
2	10
3	7
4	5
5	0
6	– 3
7	– 5

6.47 व्याख्या करें कि MR = MC किसी भी फर्म के लाभ को अधिकतम करने की कसौटी क्यों होती है?

6.48 प्रौद्योगिकी इस प्रकार की है कि 10 इकाई उत्पादन पर फर्म की दीर्घकालिक औसत लागत न्यूनतम हो जाती है। यह न्यूनतम दीर्घकालिक लागत 15 रुपए है। कल्पना करो कि वस्तु की माँग सारणी निम्न तालिका में दी गयी है--

कीमत (रुपए)	सकल माँग (इकाइयाँ)
10	1800
12	1440
15	1200
18	1000
20	760

(क) बाजार में कुल कितना माल बिकेगा? दीर्घकालिक संतुलन दशा में बाजार में कितनी फर्में शामिल होंगी?

(ख) मान लो कि तकनीकी प्रगति के कारण औसत लागत वक्र नीचे खिसक जाता है और न्यूनतम लागत 12 रुपए हो जाती है। इस अवस्था में उत्पादन स्तर भी 8 इकाई होता है। अब दीर्घकाल में इस उद्योग में कितनी फर्म काम करेंगी?

इकाई-V

साधन कीमत निर्धारण

साधन कीमत निर्धारण

अध्याय **7**

7.1 साधन माँग

7.2 कुल साधन माँग, साधन आपूर्ति और संतुलन

7.3 श्रमिक संघ

हमने पिछले पाँच अध्यायों (2 से 6) में उत्पादन बाजार को समझने का प्रयास किया है। इसमें हमारा ध्यान इन प्रश्नों पर केंद्रित रहा कि किन वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होगा, कितना उत्पादन होगा और उसकी बाजार में कीमत क्या रहेगी। एक प्रकार से, उन अध्यायों में हम अर्थव्यवस्था की प्रथम मूलभूत समस्या **क्या** पर विचार करते रहे हैं। उत्पादन बाजारों में वस्तुओं के माँगकर्ता **परिवार** होते हैं और आपूर्तिकर्ता इकाइयों को हम फर्म कहते रहे हैं।

इस अध्याय में हम साधन या आदान बाजारों पर विचार करेंगे। हमारी विचार प्रक्रिया अब विभिन्न प्रकार के श्रम/कौशल, पूँजी (यंत्र-संयंत्र) और भूमि आदि पर केंद्रित होगी। इन बाजारों में माँगकर्ता इकाइयाँ फर्म होती हैं और संसाधनों/आदानों के आपूर्तिकर्ता परिवार होते हैं।

साधन और उत्पाद बाजारों में कुछ समानताएँ होती हैं, तो कुछ विलक्षणताएँ भी पाई जाती हैं। विलक्षणताओं का एक कारण तो यही है कि इन बाजारों के माँग और आपूर्तिकर्ता वस्तु बाजारों के एकदम विपरीत होते हैं। यहाँ के विचारणीय प्रश्न या मुद्दे भी अलग होते हैं। यहाँ अर्थव्यवस्था की केंद्रीय समस्या **क्या** नहीं बल्कि **किसके लिए** पर अधिक प्रकाश डाला जाता है। श्रम बाजार की ही बात लें। श्रम की सेवाओं की कीमत या प्रतिफल को मजदूरी कहा जाता है। हम यहाँ ये जानने का प्रयास करेंगे कि विभिन्न प्रकार (श्रेणियों) के श्रम कौशल के प्रतिफलों का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है। सामान्यतः साधन बाजार में हम विभिन्न व्यक्तियों की मजदूरी-भाड़ा-ब्याज

आदि के रूप में आय के निर्धारण का अध्ययन करते हैं। ये समाज के कुल उत्पाद (के मूल्य, अर्थात सामाजिक आय) के विभाजन का विश्लेषण ही है। ये आमदनियों का बंटवारा ही अंततः अर्थव्यवस्था में विभिन्न परिवारों और व्यक्तियों के बीच वस्तुओं और सेवाओं पर क्रय (खरीदने की शक्ति के माध्यम से) अधिकारों का निर्धारण करता है। इस तरह से साधन बाजारों का घटनाक्रम **किसके लिए** की केंद्रीय समस्या के समाधान में सहायक बन जाता है।

जहाँ तक वस्तु बाजारों से समानता की बात है, साधन बाजारों में भी प्रत्येक साधन के माँग और आपूर्ति पक्ष होते हैं। साधनों की माँग और आपूर्तियों की समानता ही उनकी (अपनी-अपनी) साधन कीमतों का निर्धारण करती हैं।

7.1 साधन माँग

7.1.1 एक फर्म की समस्या

ये तो हम जानते ही हैं कि फर्मों को साधन सेवाओं की आवश्यकता होती है। किसी भी समय फर्म के समक्ष विभिन्न साधनों की अलग-अलग कीमतें उपस्थित होती हैं। किसी परिवहन और भंडारण के व्यवसाय में लगी फर्म की बात लें। ये श्रमिकों को काम पर रखती हैं और गोदाम आदि सामान का भंडार करने के लिए किराए पर लेती हैं। मान लो कि इस समय प्रचलित मजदूरी दर 15 रुपए घंटा है। गोदाम में प्रतिदिन प्रतिघन मीटर स्थान के लिए 50 रुपए देने होते हैं। प्रश्न यह उठता है कि लाभ को अधिकतम स्तर पर ले जाने का प्रयास कर रही फर्म को बाजार में पूर्व निर्धारित साधन प्रतिफलों को ध्यान में रखते हुए किस साधन की कितनी इकाइयों का प्रयोग करना चाहिए?

एक तरफ तो संसाधनों की ज्यादा इकाइयों के प्रयोग से उत्पादन अधिक होता है और (जब तक कि सीमांत आगम धनात्मक है) इससे फर्म की कुल आगम में वृद्धि होती है। दूसरी ओर, अधिक संसाधन इकाइयों को काम पर लगाने से फर्म की कुल लागत में भी वृद्धि होती है।

7.1.2 एक परिवर्ती साधन

हम शुरू में यह मान लेते हैं कि एक के अतिरिक्त शेष सभी आदानों का प्रयोग स्थिर रखा जा रहा है। दूसरे शब्दों में, फर्म केवल एक साधन के प्रयोग में फेर-बदल कर रही है, अन्यों की प्रयुक्त मात्राएँ अपरिवर्तित रहती हैं। ये परिवर्ती साधन श्रम हैं। इसके प्रयोग की इकाई श्रम घंटे है (अर्थात एक श्रमिक द्वारा सामान्यतः एक घंटे में किया गया काम ही श्रम के आदान के मापन की इकाई है)। यदि सभी श्रमिकों को प्रतिदिन निश्चित अवधि (घंटों) तक ही काम करना हो, तो हम श्रम के आदान को श्रमिकों की संख्या के समान भी मान सकते हैं। हम अभी श्रमिकों का वर्गीकरण या उनके कौशल आदि में भेद नहीं कर रहे हैं। प्रश्न यह है कि किसी फर्म को कितने श्रम-घंटों (L द्वारा अभिव्यक्त श्रम की इकाइयों) का प्रयोग करना चाहिए?

स्थिर संसाधनों की कुल लागत तो इनकी परिभाषा के अनुसार ही स्थिर हो जाती है। हमारे इस उदाहरण में श्रम ही एकमात्र परिवर्ती साधन है और उसकी अर्थात परिवर्ती साधन की कुल लागत का आकलन बहुत कठिन काम नहीं है। अगर प्रति घंटा मजदूरी 20 रुपए हो तो 4 घंटे श्रम के प्रयोग की फर्म के लिए लागत $20 \times 4 = 80$ रुपए होगी। यदि सात घंटों तक श्रम की सेवाओं का उपयोग

किया जाए तो फिर श्रम की कुल लागत या कुल पारिश्रमिक 20 × 7 = 140 रुपए होगी। इसी प्रकार हम अन्य श्रम प्रयोग स्तरों के लिए श्रम लागत की गणना कर सकते हैं।

किसी साधन के प्रयोग में परिवर्तन से फर्म की कुल आगम पर भी प्रभाव होता है। इस प्रभाव के आकलन का कार्य दो चरणों में किया जाता है–(क) पहले चरण में हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि परिवर्ती साधन के प्रयोग से उत्पादित मात्रा (उत्पादन के स्तर) पर क्या प्रभाव पड़ता है, और (ख) दूसरे चरण में उत्पादन में आए उपर्युक्त परिवर्तन के कुल आगम पर प्रभावों का आकलन किया जाता है। आपको ध्यान होगा हमने तीसरे अध्याय में (क) पर ही विचार किया था। वास्तव में हम (ख) पर भी विचार कर चुके हैं। अध्याय 4 में प्रतियोगी फर्म तथा अध्याय 6 में एकाधिकारी फर्म के उत्पादन में परिवर्तन का विश्लेषण किया गया था। अब तो हमारा काम काफी आसान है। हमें बस उन विश्लेषण सूत्रों को इकट्ठा करने का काम बचा है जिनसे हम पहले ही परिचित हैं। **विश्लेषण की सुविधा के लिए हम इस समूचे अध्याय में यही मान कर चलेंगे कि यहाँ जिस फर्म की बात हो रही है वह एक पूर्ण प्रतियोगी फर्म है।**

अध्याय 3 से **कुल भौतिक उत्पाद (TPP)** और **सीमांत भौतिक उत्पाद (MPP)** की अवधारणाओं को एक बार फिर से याद करें। TPP किसी साधन के विभिन्न प्रयोग स्तरों पर कुल उत्पादन के स्तरों (मात्राओं) को अभिव्यक्त करता है (जबकि अन्य संसाधनों की प्रयुक्त मात्राएँ स्थिर रहती हैं)। इसी प्रकार MPP द्वारा अन्य संसाधन प्रयोग स्थिर रहते हुए किसी एक साधन के प्रयोग में प्रति इकाई परिवर्तन के कारण कुल उत्पाद में आया परिवर्तन दिखाया जाता है। अध्याय 3 से ही हमें TPP और MPP वक्रों के आकार की भी जानकारी है। हम यह भी जानते हैं कि MPP का उल्टे U जैसा आकार ह्रासमान प्रतिफलों के नियम की देन है।

बस अब किसी प्रतियोगी फर्म द्वारा लाभ अधिकतम करने के लिए इस साधन की कितनी इकाइयों को काम पर लगाया जाएगा, इस प्रश्न का समाधान करने के लिए दो और अवधारणाओं की आवश्यकता रह गई है। पहली अवधारणा को **कुल मूल्य उत्पाद** (Total Value Product—TVP) कहा जाता है। इसका परिभाषा सूत्र है—P × TPP, जहाँ P वस्तु की बाजार कीमत है। यह वास्तव में कुल आगम के ही समान है। दूसरी संकल्पना को **सीमांत उत्पादन मूल्य** (Value of Marginal Product – VMP) कहा जाता है। इसका परिभाषा सूत्र है–P × MTP। अत: VMP को साधन प्रयोग में एक अतिरिक्त इकाई की वृद्धि के कारण TVP या कुल आगम में हुए परिवर्तन के समान माना जा सकता है। इसका कारण यही है कि साधन की एक और इकाई के प्रयोग से उत्पादन में कुछ वृद्धि होती है। उस अतिरिक्त उत्पादन को बेचने पर हमारे आगम में बढ़ोतरी हो जाएगी। अत: VMP उस अतिरिक्त MPP के मूल्य के समान होगी।

अध्याय 3 की तालिकाओं 3.2 और 3.3 की TPP और MPP तालिकाओं पर एक बार पुन: विचार करें। हमें TVP और VMP का आकलन करने के लिए केवल कीमतों की जानकारी की आवश्यकता है। मान लो कि कीमत 2 रुपए है, अर्थात P = 2 रुपए। अब तो हम उन TVP और VMP सारणियों की रचना आसानी से कर सकते हैं। यही काम हमने तालिका 7.1 में किया है।

तालिका 7.1
TPP, MPP, TVP और VMP सारणियाँ

श्रम घंटे L	TPP	MPP	TVP = P × TPP (रुपए)	VMP = P × MPP (रुपए)
0	0	–	0	–
1	10	10	20	20
2	22	12	44	24
3	33	11	66	22
4	43	10	86	20
5	51	8	102	16
6	56	5	112	10
7	56	0	112	0
8	48	-8	96	-16
9	36	-12	72	-24

हमारे लिए VMP सारणी और इसकी विशेषताएँ विशेष रूप से उपयोगी रहेंगी।

(क) यह MPP सारणी के समानुपाती रहती है, क्योंकि हमने इसकी रचना के लिए MPP सारणी को कीमत से गुणा ही किया है। कीमत स्थिर है। इसका अर्थ होगा कि MPP सारणी के गुण-स्वरूप का निर्धारण करने वाला ह्रासमान साधन प्रतिफल का नियम VMP सारणी के स्वरूप का निर्धारक भी होगा। यह भी साधन प्रयोग में वृद्धि होने पर शुरू में बढ़ेगी और फिर इसमें कमी आनी आरंभ हो जाएगी।

(ख) साधन प्रयोग के किसी स्तर विशेष पर TVP का मान उस स्तर तक की सभी VMP के योगफल के समान होगा। उदाहरण के लिए उपर्युक्त तालिका 7.1 में L = 3 पर TVP = 66 रुपए। यह L = 1 (20), L = 2 (24) L = 3 (22) रुपए के योगफल के बराबर है।

उपर्युक्त विशेषता 'क' के अनुसार VMP सारणी पर आधारित VMP वक्र का आकार उल्टे U-ज़ैसा होगा जैसा कि MPP वक्र का था। चित्र 7.1(क) में यही दिखाया गया है। दूसरी विशेषता B के अनुसार यदि हम सतत् या अविछिन्न VMP वक्र बनाएँ तो उसके अधीनस्थ क्षेत्रफल TVP अर्थात कुल आगम के समान होगा। चित्र 7.1 के भाग (ख) में हमने एक सामान्य (काल्पनिक) सतत् VMP वक्र बनाया है। इसके अनुसार $L = L_1$ पर TVP का मान $OABL_1$ क्षेत्रफल द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है।

अभी तक हम उन अवधारणाओं को समझने और संग्रहित करने का प्रयास कर रहे थे जिनसे एक साधन के प्रयोग में वृद्धि के कारण प्रतियोगी फर्म की कुल आगम प्रभावित होती है। आइए अब इस साधन प्रयोग वृद्धि की लागत पर भी विचार करें। मान लो कि साधन L की प्रत्येक इकाई की लागत W है। दूसरे शब्दों में प्रति घंटा मजदूरी दर W रुपए के समान है। चित्र 7.2 में साधन कीमत रेखा (हमारे
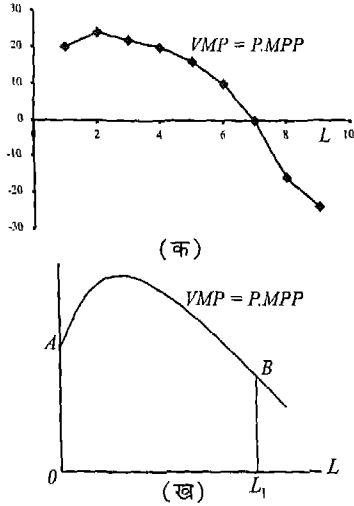
चित्र 7.1 : VMP वक्र

वर्तमान संदर्भ में मजदूरी रेखा) दिखाई गई है। हम जानते ही हैं कि हमारी प्रतियोगी फर्म बाजार से चाहे जितनी श्रम इकाइयों को प्रचलित मजदूरी की दर पर काम पर लगा सकती है। अत: इस फर्म के लिए मजदूरी दर W प्रति घंटे के स्तर पर स्थिर रहती है। इसी कारण से यह मजदूरी रेखा क्षैतिज अक्ष के समांतर रहती है। इसी सरल रेखीय मजदूरी रेखा के अंतर्गत आया क्षेत्रफल श्रम की कुल लागत या इस आदान के प्रयोग के लिए किए गए समस्त भुगतान के समान होगा। यदि हमारी ये फर्म L_1 श्रम घंटों का प्रयोग करे तो इसके लिए $OWCL_1$ राशि उसे समग्र मजदूरी के रूप में चुकानी होगी।
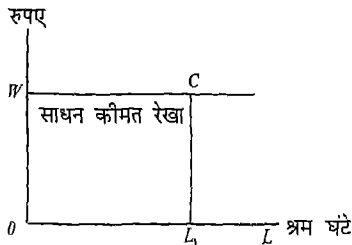
चित्र 7.2 : साधन कीमत रेखा

अब हम उस नियम की व्युत्पत्ति के लिए तैयार हो गए हैं जो अधिकतम लाभ कमाने की इच्छुक फर्म द्वारा श्रम घंटों के प्रयोग के स्तर का निर्धारण कर सकता है। इसके लिए चित्र 7.3 पर ध्यानपूर्वक विचार करें। इसमें हमने चित्र 7.1 (ख) और 7.2 को इकट्ठा कर दिया है। फर्म बाजार में प्रचलित मजदूरी दर W_0 के अनुसार कार्य कर रही है। इस दशा में फर्म को उतनी श्रम इकाइयों को काम पर रखना चाहिए जिनके लिए साधन कीमत VMP के समान हो। ऐसे प्रयोग स्तर का निर्धारण हमारे चित्र 7.3 में कीमत रेखा और VMP वक्र के प्रतिच्छेदन बिंदु पर हो जाता है। अत: फर्म को L_0 श्रम का प्रयोग करना चाहिए। दूसरे शब्दों, में किसी साधन प्रयोग के माध्यम से अधिकतम लाभ कमाने की दृष्टि से उस साधन को काम पर लगाने (प्रयोग करने) के लिए सर्वग्राही नियम ये होगा–

(क) साधन की VMP = साधन कीमत
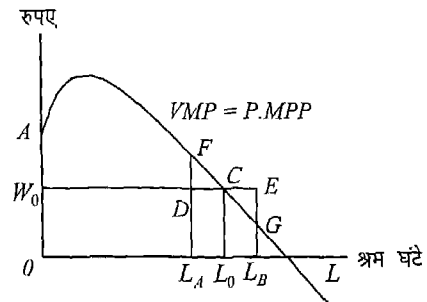
चित्र 7.3 : साधन प्रयोग विषयक निर्णय

यह शर्त (क) पूर्ण प्रतियोगी फर्म की अधिकतम लाभ की कसौटी P = MC के ही समतुल्य है। वस्तुत: ये दोनों शर्तें एक ही सिक्के के दो आयाम हैं। शर्त (क) का आधारभूत तर्क उसी जैसा है जिसके अनुसार P = MC का निर्धारण होता है। श्रम प्रयोग L_0 होने पर TVP या कुल आगम का मान क्षेत्रफल $OACL_0$ के समान होगा। यहाँ पर साधन पर कुल

लागत OW_OCL_O के समान है। अत: कुल लाभ, अर्थात TVP और सकल साधन लागत का अंतर W_OAC[1] क्षेत्रफल के समान होगा। अब किसी अन्य रोजगार स्तर L_A (या L_B) पर विचार करके देखें। हमारी गणना हमें यह साफ-साफ बता देगी कि ऐसे किसी भी रोजगार पर हमारा कुल लाभ W_OAC से कम रह जाता है। उदाहरण के लिए $L = L_A$ पर सकल लाभ W_OAFD बनता है जो कि $W_OAC - CDF$ के समान है। इसी तरह से $L = L_B$ पर कुल लाभ $W_OAC - CEG$ बचता है। अत: यह सिद्ध हो जाता है कि $L = L_O$ पर ही लाभ अपने अधिकतम स्तर पर होगा।

हमारे उपर्युक्त नियम या शर्त (क) का आधार ह्रासमान साधन प्रतिफल का नियम ही है। आइए, इसे जानने के लिए VMP = साधन कीमत बिंदु से आगे बढ़ना आरंभ करें। यहाँ पर MPP में कमी आ रही है। यदि फर्म एक साधन इकाई और काम पर रख ले तो उससे प्राप्त VMP का मान साधन की कीमत से कम रह जाएगा। इसका अर्थ यही है कि अतिरिक्त सृजित आगम (= VMP) अतिरिक्त लगी लागत (= साधन कीमत) से कम हैं। इसका अर्थ होगा पहले से कम लाभ। दूसरी ओर यदि फर्म ने एक साधन इकाई को काम नहीं दिया होता तो VMP का स्तर साधन कीमत से अधिक रहता। अत: आगम का त्याग (वह VMP जो कम साधन प्रयोग के कारण नहीं मिल पाई) साधन लागत की बचत (जो साधन की इकाई को काम पर नहीं रखने के कारण हुई) से अधिक होगा। इसका अर्थ भी लाभ में कमी ही है (अर्थात उतना लाभ नहीं हुआ जितना हो सकता था)। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ह्रासमान प्रतिफल नियम के कारण शर्त (क) के उल्लंघन से लाभ में कमी ही आएगी। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि शर्त (क) पूरा होने पर लाभ का स्तर अधिकतम क्यों हो जाता है।

साधन माँग वक्र

हमारी पिछले अनुच्छेद की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि फर्म सदैव VMP वक्र पर किसी बिंदु का ही चयन करेगी। यही नहीं, वह ऐसे किसी बिंदु पर कार्य नहीं करना चाहेगी जहाँ ह्रासमान प्रतिफल का नियम लागू नहीं हो। अत: इसका अर्थ होगा कि VMP वक्र का नीचे की ओर (दाहिनी ओर) ढलवाँ अंश ही फर्म का साधन माँग वक्र बन जाता है।[2] इसका यह भी अर्थ है कि फर्म का साधन माँग वक्र दाहिनी ओर ढलवाँ होता है।

आइए अब साधन माँग वक्र की स्थिति में परिवर्तन के निर्धारकों पर विचार करें।

7.1.3 साधन माँग वक्र का खिसकाव

साधन माँग वक्र, VMP वक्र का एक हिस्सा ही है। अत: जो भी कारक VMP को अपने स्थान से खिसका सकते हों, वे सभी साधन माँग वक्र के खिसकाव के निर्धारक भी बन जाते हैं। हम यहाँ इस प्रकार के स्थान परिवर्तन के निम्न स्रोतों पर विचार कर रहे हैं।

वस्तु की कीमत में परिवर्तन

हमारी परिभाषा के अनुसार $VMP = P \times MPP$। अत: वस्तु कीमत P में वृद्धि साधन प्रयोग के किसी भी (पूर्व निर्धारित) स्तर पर VMP वक्र को ऊपर खिसका सकती है। परिणामस्वरूप साधन माँग वक्र

---

[1] यहाँ 'कुल' विशेषण का प्रयोग किया जा रहा है क्योंकि हमने स्थिर लागतों को घटाया नहीं है। वैसे परिभाषानुसार लाभ = कुल लाभ = स्थिर लागत। किंतु यहाँ स्थिर लागत तो स्थिर ही रहती है। अत: जिस साधन प्रयोग स्तर पर कुल लाभ अधिकतम होगा वहीं पर लाभ भी स्वत: ही अधिकतम हो जाएगा।

[2] यह विचार भी फर्म के आपूर्ति वक्र के उठते हुए सीमांत लागत वक्र के अंश के समान होने से मिलता-जुलता है।

दाहिनी ओर (ऊपर को) खिसक जाता है। यही बात चित्र 7.4 में स्पष्ट की गई है।
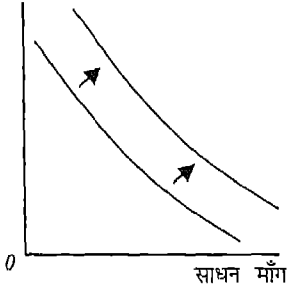
चित्र 7.4 : वस्तु कीमत में वृद्धि और साधन माँग

अतः हम कह सकते हैं कि **सामान्यतः वस्तु कीमत में वृद्धि (कमी) के कारण साधन माँग वक्र दाहिनी (बाईं) ओर खिसक जाता है।**

यह निष्कर्ष उत्पादन और साधन बाजारों के बीच एक संबंध सूत्र को भी स्पष्ट करता है। उदाहरण के लिए किसी दस्तकारी उद्योग पर विचार करें। इसका उत्पादन भारत ही नहीं विदेशों में भी बिकता है। इसके आपूर्ति पक्ष में वे हस्तशिल्पी हैं जो कच्चे माल और अपने औजारों द्वारा शिल्प कृतियों की रचना करते हैं। मान लो कि इन कृतियों की अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शनी लगाई गई है और उसकी ओर बहुत से लोग आकर्षित होते हैं। विश्व भर से अनेक व्यक्ति और संस्थाएँ इसके विषय में जान जाते हैं। उन्हें ये कलाकृतियाँ पसंद भी आती हैं। परिणामस्वरूप, इस दस्तकारी के उत्पादन की माँग में बढ़ोतरी हो जाती है। हम अपने अध्याय 5 के माँग-आपूर्ति विश्लेषण की सहायता से तुरंत यह समझ सकते हैं कि इस हस्तकला उद्योग के उत्पादन की कीमतों में वृद्धि होगी।

अब संसाधन बाजार, अर्थात हस्त शिल्पियों की सेवाओं के बाजार की ओर ध्यान दें। कलाकृतियों की कीमत में वृद्धि से उनके निर्माताओं की VMP दाहिनी ओर खिसक जाएगी। परिणामतः ऐसे शिल्पकारों की सेवाओं का माँग वक्र भी दाहिनी ओर खिसक जाएगा। इसका निष्कर्ष यही है कि साधन की माँग की व्युत्पत्ति वस्तु की माँग से होती है। अतः साधन माँग की **व्युत्पन्न माँग** कहलाती है।
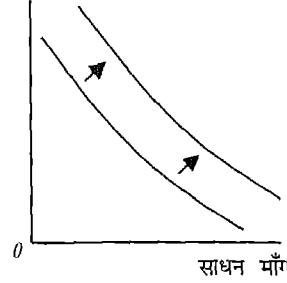
(क) तकनीकी परिवर्तन से साधन की MPP में वृद्धि
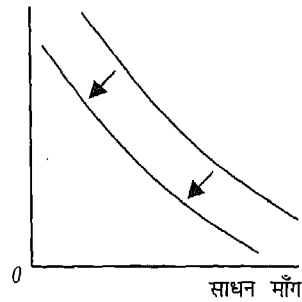
(ख) तकनीकी परिवर्तन से साधन की MPP में कमी

चित्र 7.5 : तकनीकी परिवर्तन और साधन माँग

प्रौद्योगिकीय/तकनीकी परिवर्तन

तकनीकी परिवर्तन भी किसी साधन की MPP को परिवर्तित कर उसके माध्यम से साधन कीमत के स्थिर रहते हुए भी उसकी माँग में परिवर्तन ला सकते हैं। यदि तकनीकी प्रगति के कारण साधन की MPP में वृद्धि हो जाए तो उसका माँग वक्र दाहिनी ओर खिसक जाता है। चित्र 7.5(क) में यही प्रभाव दिखाया गया है।

इसके विपरीत, यदि तकनीकी परिवर्तन के कारण साधन की MPP में गिरावट आ जाए तो इस का माँग वक्र भी नीचे (बाईं ओर) खिसक जाएगा। चित्र 7.5 के भाग ख में यह परिवर्तन दिखाया गया है।

अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि पिछले दो-तीन दशकों में विश्व भर में तकनीकी प्रगति का जो दौर चला है, उसने कुशल श्रमिकों की MPP को ऊपर उठा दिया है। किंतु अकुशल श्रमिकों की MPP पर इसके प्रभाव अधिक स्पष्ट नहीं हो पा रहे हैं।[3]

7.1.4 वितरण का सीमांत उत्पादिता सिद्धांत

अभी तक हम ये मानकर चल रहे थे कि फर्म केवल एक आदान के प्रयोग में परिवर्तन कर रही है, अथवा केवल एक साधन ही परिवर्तनशील है। वास्तव में फर्म अनेक प्रकार के संसाधनों का प्रयोग करती है। कई प्रकार के कौशल-स्तर के श्रमिकों, अनेक कच्चे माल/सामग्रियों, ऊर्जा और तरह-तरह की मशीनों व भूमि का प्रयोग एक आम बात है। फिर अधिकतम लाभ कमाने वाली फर्म के इन विभिन्न आदानों की एक साथ माँग का निर्धारण करने के लिए उपयुक्त कसौटियाँ या शर्तें क्या होंगी?

वास्तव में वे शर्तें हमारी पूर्व परिचित शर्त (क) का संवर्धित रूप ही हैं। एक उदाहरण–मान लो कि फर्म दो आदानों X और Y का प्रयोग करती है तथा उनकी कीमतें W_X और W_Y हैं। उनकी सीमांत भौतिक उत्पादिताएँ क्रमशः MPP_X और MPP_Y द्वारा दर्शाई गई हैं। फिर तो उनके आधार पर लाभ को अधिकतम करने की शर्तें/नियम या कसौटियाँ होंगी–

(क) $VMP_X = P \times MPP_X = W_X$

$VMP_Y = P \times MPP_Y = W_Y$

दूसरे शब्दों में **लाभ का स्तर उस समय अधिकतम होगा जब प्रत्येक साधन की VMP उसकी कीमत के समान हो।**

ध्यान देने की बात यही है कि एक से अधिक साधनों में परिवर्तन करते समय भी MPP की अवधारणा परिवर्तित नहीं होती।

अब आप अध्याय 1 में बताई गई केंद्रीय समस्या पर फिर विचार करें। समस्या थी–**किसके लिए** की। इसका सीधा संबंध है **कौन कितना कमाता है** से। हमारी शर्त (क') इस विषय में एक **सिद्धांत** का प्रतिपादन कर देती है। **प्रत्येक साधन अपने सीमांत भौतिक उत्पादन के मूल्य के समान कमाई करता है।** इसे हम **वितरण का सीमांत उत्पादिता सिद्धांत** कहते हैं।

इस सिद्धांत का एक अर्थ यह भी है कि कुशल श्रमिकों को अकुशल की अपेक्षा अधिक कमाई होती है क्योंकि, कुशल श्रमिकों की सीमांत उत्पादिता अकुशल श्रमिकों से अधिक होती है।

इसी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए मान लेते हैं कि हमारा साधन X कुशल श्रम तथा Y अकुशल श्रम है। अतः W_X कुशल श्रमिकों की मजदूरी और W_Y अकुशल श्रमिकों की मजदूरी को दर्शाएगा। दोनों एक ही उद्योग में काम कर रहे हैं और उस उत्पादन की कीमत P है,

अतः शर्त (क') के अनुसार :

$$\frac{W_X}{W_Y} = \frac{P \cdot MPP_X}{P \cdot MPP_Y} = \frac{MPP_X}{MPP_Y}$$

अतः यदि $MPP_X > MPP_Y$ तो $W_X > W_Y$। अर्थात, कुशल श्रम को अकुशल की अपेक्षा अधिक मजदूरी मिलेगी।

[3] साधन माँग वक्र को खिसका देने वाला एक कारक अन्य संसाधनों के प्रयोग में परिवर्तन है। किंतु वर्तमान पाठ्यक्रम की सीमाओं में रहते हुए हम उनकी व्याख्या यहाँ नहीं कर पा रहे हैं। उस व्याख्या के लिए भी आपको उच्च स्तर पर अर्थशास्त्र के अध्ययन तक प्रतीक्षा करनी होगी।

7.2 कुल साधन माँग, साधन आपूर्ति और संतुलन

सिद्धांत की बात तो यही होगी कि साधन कीमतों का निर्धारण भी बाजार की शक्तियों, साधनों की माँग और आपूर्ति वक्रों, द्वारा हो (वैसे हम अभी तक सारा ध्यान केवल माँग पक्ष पर लगा रहे हैं)। किंतु आपूर्ति पक्ष का विश्लेषण में प्रवेश करा देने पर भी सीमांत उत्पादिता सिद्धांत इसकी व्याख्या में कुछ थोड़े फेर-बदल के साथ मान्य रहता है। इसे तथा साधन बाजार के सामान्य संतुलन को समझने के लिए हम एक बार वापिस एक परिवर्ती साधन प्रतिमान की ओर चलते हैं।

अभी तक हमने केवल एक फर्म के साधन माँग वक्र का निर्धारण किया है। किंतु, पूर्ण प्रतियोगी बाजार में तो ऐसी फर्मो की विशाल संख्या होती है। अतः उस उद्योग विशेष में काम कर रही सभी फर्मों के माँग वक्रों का योगफल करने पर हमें उद्योग व्यापि साधन माँग फलन/वक्र मिल जाएगा।[4] किंतु अनेक साधनों का कितने ही उद्योगों में प्रयोग होता है। अतः साधन की समग्र माँग का आकलन करते समय हमें उन सभी उद्योगों की सभी फर्मों की साधन माँग वक्रों का जोड़ करना होगा। चित्र 7.6 (क) तथा (ख) में साधन की समग्र माँग को DD रेखा द्वारा दिखाया गया है।[5]

आइए अब आपूर्ति पक्ष की ओर चलें। उदाहरण के लिए हम शिक्षण सेवा को (शिक्षा) उत्पादन का एक साधन मान लेते हैं। यदि स्कूल शिक्षकों के वेतनमान बेहतर हो जाएँ तो पहले की अपेक्षा अधिक लोग शिक्षण को अपना व्यवसाय चुनने लगेंगे। अतः इस उत्पादक सेवा का आपूर्ति वक्र (दाहिनी ओर) ऊपर उठता हुआ बनेगा। किंतु यह केवल दीर्घकाल में संभव हो पाएगा। अल्पकाल, जैसे कुछ महीने या एक-आधा वर्ष की अवधि में तो किसी भी क्षेत्र में स्कूल शिक्षकों की आपूर्ति स्थिर प्रायः रहेगी (शिक्षकों का शिक्षण-प्रशिक्षण प्रमाणीकरण आदि में वर्षों लग जाते हैं)। यही बात प्रायः सभी प्रकार के उच्च स्तरीय कौशल आदि पर लागू रहती है। चित्र 7.6 के भाग (क) तथा (ख) में किसी कौशल विशेष की अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक आपूर्ति वक्रों को SS द्वारा दिखाया गया है।

वस्तु बाजार की भांति आपूर्ति और माँग वक्रों के प्रतिच्छेदन से साधन बाजार संतुलन का निर्धारण होता है। चित्र के दोनों भागों में संतुलन बिंदु को E द्वारा दिखाया गया है। संतुलन मजदूरी दर W_0 तथा श्रम के उस विशेष प्रकार की इकाइयों का रोजगार स्तर N_0 द्वारा दिखाया जा रहा है।

विभिन्न प्रकार के कौशल से संपन्न श्रम के साथ-साथ फर्म भूमि, पूँजी आदि को भी काम पर जुटाती है। इन्हें गैर मानव उत्पादक साधन कहा जाता है। भूमि की आपूर्ति पर विचार करें। आर्थिक चिंतन में भूमि केवल ज़मीन का टुकड़ा नहीं होता इसमें ज़मीन पर बने कमरे, भवनों की एक के ऊपर एक बनी मंजिलें भी सम्मिलित होती हैं। ये तो सभी जानते हैं कि भूमि की अल्पकालिक आपूर्ति तो पूरी तरह स्थिर या नियत ही है। किंतु दीर्घकाल में इसमें भी परिवर्तन संभावित हो सकते हैं। भूमि की कमाई या पारिश्रमिक स्थान (या पर्यावेश) की प्रति इकाई किराया या भाड़ा होता है। यह भाड़ा जितना अधिक होता है, भूमि के स्वामी उतने अधिक स्थान की

[4] ध्यान रहे कि साधन की कुल माँग का निर्धारण किसी वस्तु की कुल माँग की तुलना में कहीं जटिल होता है। इसका एक कारण सभी फर्मों द्वारा उत्पादन बढ़ाने पर वस्तु की कीमत में परिवर्तन होता है। विश्लेषण को सरल बनाने के लिए सभी फर्मों की साधन माँगों का योग करते समय निहित मान्यता रहती है कि इस दौरान वस्तु की कीमत अपरिवर्तित रहेगी।

[5] DD की व्युत्पत्ति वस्तु बाजार में व्यक्तियों के माँग वक्रों के क्षैतिज योग द्वारा बाजार माँग की व्युत्पत्ति जैसी ही है।

आपूर्ति करने को तैयार हो जाएँगे।[6] अत: दीर्घकाल में भूमि का आपूर्ति वक्र भी ऊपर की ओर उठता हुआ बन जाता है। इस प्रकार भूमि बाजार का संतुलन भी किसी श्रम-कौशल विशेष के संतुलन जैसा ही होगा।
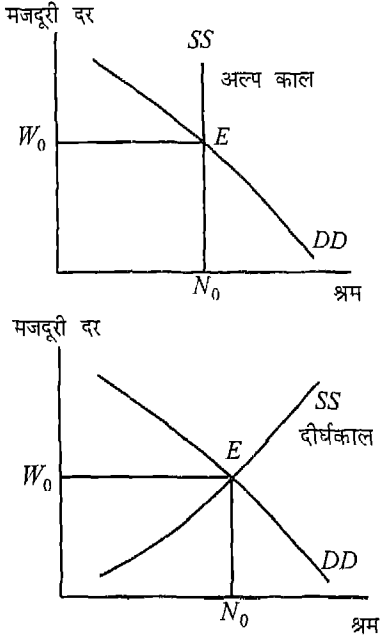
चित्र 7.6 : किसी कौशल विशेष की माँग, आपूर्ति और संतुलन

चित्र 7.6 ही इसके बाजार की अल्प एवं दीर्घकालीन अवस्था का चित्रण कर सकेगा, बस, दो फेर-बदल करने होंगे। हमें **मजदूरी दर** के स्थान पर **भाड़ा** और **श्रम** के स्थान पर **भूमि** लिखना होगा।

एक बात का अवश्य ध्यान रखें–यदि भूमि का संकीर्ण अर्थ लगाकर उसे पर्यावेश नहीं बल्कि जमीन का क्षेत्रफल ही मान लें तो किसी भी उद्योग के लिए उसकी आपूर्ति भले ही ऊपर उठती हुई (दीर्घकाल में) दिखाई दे, किंतु, पूरे देश के लिए तो वह स्थिर ही रहेगी।[7]

पूँजी भी उत्पादन का एक साधन है। वैसे हम इसी शब्द के संदर्भानुसार अलग-अलग अर्थ लगा लेते हैं, पर, यहाँ पूँजी से हमारा तात्पर्य यंत्र-संयंत्र, उपकरण, मशीनरी आदि से ही है। यह भी भूमि की भांति गैर–मानव (Non-human) उत्पादक साधन है। हमारा कहना है कि पूँजी भी किराए जैसा ही प्रतिफल कमाती है। यदि कोई अपनी एम्बेसडर कार को टैक्सी की तरह चलाता हो तो उसके द्वारा दैनिक या प्रति घंटा दर से जो रकम अपनी सवारियों या ग्राहकों से वसूली जाती है उसे पूँजी द्वारा किराया कमाने का उदाहरण कहेंगे। यह साधन भूमि से अलग है, क्योंकि अर्थव्यवस्था के पूँजी भंडार का पुन: निर्माण (और पुन: रचना भी) संभव है। भूमि का पर्यावेश तो सीमित है, उसका पुन: निर्माण नहीं हो सकता पर, पूँजी की आपूर्ति को निरंतर बढ़ाया जा सकता है। चित्र 7.6 किसी भी प्रकार की पूँजी के बाजार पर लागू होकर उसकी अवस्था और संतुलन की व्याख्या कर सकता है।

हमारे साधन माँग आपूर्ति विश्लेषण के दो निहित परिणाम होते हैं–

क. किसी साधन की माँग में वृद्धि से उसकी कीमत में बढ़ोतरी हो जाती है (माँग वक्र बाहर की ओर खिसक जाता है)। इसी प्रकार साधन की आपूर्ति में वृद्धि के प्रभाव (आपूर्ति वक्र का बाहर खिसकाव) से कीमत में कमी हो

---

[6] हमारे वर्तमान संदर्भ में हम भूमि को उत्पादक साधन मानकर उसकी उत्पादन या साधन सेवा की कीमत की बात कर रहे हैं। यह एक परिसंपत्ति के रूप में भूमि की कीमत से पूरी तरह भिन्न है।

[7] वैसे इसके अपवाद भी हैं–जापान और हांगकांग जैसे देशों ने समुद्र से भूमि का पुनरावर्तन (reclaimation) भी किया है।

जाती है। अब तक तो आपको ये निष्कर्ष बहुत ही स्वाभाविक या स्वयं-सिद्ध जैसे लगने लगे होंगे। इन्हीं के माध्यम से साधन बाजार में अनेक प्रकार के कारणों से वक्रों के खिसकावों की व्याख्या हो जाती है। यदि किसी वस्तु की माँग में वृद्धि हो जाए तो उसके उत्पादन के लिए आवश्यक विशेष कौशल (कंप्यूटर की जानकारी) की माँग में वृद्धि होगी। उसके प्रभाव से उस कौशल विशेष से संपन्न व्यक्तियों की सेवाओं (कंप्यूटर इंजीनियरों) की कीमत में वृद्धि होगी। किसी साधन की MPP बढ़ाने वाली तकनीकी प्रगति उस साधन के प्रतिफल को और बढ़ा देगी।

ख. आप किसी भी साधन के माँग पक्ष पर विचार करें, संतुलन बिंदु पर साधन प्रतिफल उसकी सीमांत भौतिक उत्पादिता के मूल्य के समान होगा। अतः **जहाँ भी किसी साधन की सीमांत भौतिक उत्पादिता का प्रयुक्त साधन सेवा की मात्रा के संतुलन स्तर पर मूल्यांकन होगा वहीं वितरण का सीमांत उत्पादिता सिद्धांत मान्य हो जाएगा।**

7.3 श्रमिक संघ

हमने इस अध्याय में माँग आपूर्ति विश्लेषण के माध्यम से साधन बाजार में कीमत प्रणाली की कार्य विधि पर विचार किया है। यह अध्याय 5 में चर्चित वस्तु बाजार के विश्लेषण जैसा ही है। वहाँ हमने सरकार द्वारा बाजार में हस्तक्षेप कर प्रत्यक्ष रूप से (नियंत्रण और समर्थन मूल्यों की विधि द्वारा) वस्तु की कीमत के निर्धारण के प्रयासों की समीक्षा भी की थी।

साधन बाजार में भी प्रतिफलों के बाजार की शक्तियों के माध्यम से निर्धारित नहीं हो पाने के बहुत महत्त्वपूर्ण उदाहरण मिल जाते हैं। आपने अर्थव्यवस्था के अनेक क्षेत्रों में श्रमिकों के संगठनों के बारे में अवश्य कुछ न कुछ सुना होगा। इन्हें **श्रमिक संघ** या **श्रम संघ** कहते हैं। ये संगठन कर्मियों की शिकायतों को संगठित रूप से उठाने का कार्य करते हैं। कई बार तो ये हड़ताल करके कुछ दिनों तक ही नहीं, सप्ताहों तक काम ठप्प भी कर देते हैं। अक्सर ये रोजगारदाता/मालिकों के साथ सामुहिक सौदेबाजी कर श्रमिकों की मजदूरी की दरों को बढ़वाने का प्रयास भी करते हैं। जब ये संगठन सशक्त होते हैं तो इन्हें श्रम बाजार के संतुलन मजदूरी स्तर से अधिक पारिश्रमिक दर पाने के लिए सामुहिक सौदेबाजी में सफलता भी मिल जाती है।

श्रम संघों द्वारा इस प्रकार मजदूरी नियत करने के प्रयासों का श्रम बाजार पर क्या प्रभाव होता है? चित्र 7.7 पर ध्यान दें। यहाँ श्रमिकों की संख्या L_S द्वारा दिखाई गई है। यही ऊर्ध्वाकार रेखा श्रम का आपूर्ति वक्र है। श्रम का माँग वक्र L_D है। यदि बाजार में माँग आपूर्ति वक्रों के प्रतिच्छेदन द्वारा मजदूरी का निर्धारण होता तो उसकी दर W_O होती। मान लो कि श्रम संघ मजदूरी दर को W_1 स्तर पर नियत कर देता है। यह W_O से काफी अधिक है (श्रम संघ यह फैसला कर लेता है कि कोई मजदूर W_1 से कम मजदूरी पर काम नहीं करेगा)। परिणामस्वरूप अब फर्म कम श्रमिकों के सहारे काम चलाने का प्रयास करेगी (कम श्रम की माँग करेगी, उसकी नई माँग L_1 होगी)। इस कम माँग को माँग वक्र पर D_1 बिंदु द्वारा दिखाया गया है।

अब तो हमें स्पष्टतः दिखाई दे रहा है कि L_1L_S श्रमिक बेरोजगार हो गए हैं।
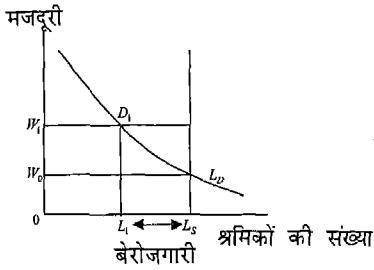
चित्र 7.7 : श्रमिक संघ और बेराजगारी

एक महत्त्वपूर्ण बात पर हम आपका ध्यान दिलाना चाहते हैं। भारत में हम सदैव यही सोचते हैं कि हमारी बेरोजगारी की समस्या का कारण हमारी विशाल जनसंख्या है। पर ध्यान से विचार करने पर पता चलेगा कि यद्यपि जनसंख्या के आकार का बेरोजगारी में अच्छा खासा **योगदान** रहता है किन्तु इस समस्या के लिए किसी न किसी सीमा तक श्रम संघों का होना भी उत्तरदायी होता है।[8]

सार संक्षेप

- साधनों की माँग फर्में करती हैं और आपूर्ति परिवार करते हैं।
- साधन कीमत का निर्धारण इसकी माँग और आपूर्ति की शक्तियाँ करती हैं।
- किसी प्रतियोगी फर्म के लिए किसी भी साधन का VMP वक्र उल्टे U-आकार का होता है। इसका कारण ह्रासमान प्रतिफल का नियम रहता है।
- प्रतियोगी फर्म की TVP उसके VMP वक्र के अंतर्गत क्षेत्रफल के समान होगी।
- साधन पर कुल लागत/साधन को कुल भुगतान साधन कीमत रेखा के अधीनस्थ क्षेत्रफल के समान होता है।
- प्रतियोगी फर्म का लाभ उस समय अधिकतम होता है जब प्रत्येक साधन को उसकी VMP के समान पारिश्रमिक दिया जाता है। इसका कारण भी ह्रासमान साधन प्रतिफल नियम है।
- साधन का माँग वक्र मूलतः VMP का दाहिनी ओर ढलवाँ भाग ही होता है।
- वस्तु की कीमत में वृद्धि साधन माँग वक्र को बाहर की ओर खिसका देती है। इसी कारण साधन माँग को व्युत्पन्न माँग कहा जाता है।
- किसी साधन की MPP और इसी के कारण उसके माँग वक्र में तकनीकी परिवर्तनों के कारण खिसकाव आ सकता है।
- सीमांत उत्पादिता सिद्धांत का अभिप्राय है कि VMP के स्तरों में अंतर होने के कारण साधनों के प्रतिफलों में भी अंतर आ जाते हैं।
- कुशल श्रमिकों की सीमांत उत्पादिता अकुशल श्रमिकों से अधिक होने के कारण उनकी मजदूरी भी अधिक होती है।

---

[8] यूरोपीय अर्थव्यवस्था का उदाहरण इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। वहाँ की जनसंख्या तो विराट नहीं है, पर वहाँ भी श्रम संघों की गतिविधियों के कारण अच्छी बड़ी बेरोजगारी की समस्या पैदा हो चुकी है।

- एक साधन का समग्र माँग वक्र उसे प्रयोग करने वाली सभी फर्मों के साधन माँग वक्रों के क्षैतिज योग द्वारा प्राप्त होता है।
- साधन आपूर्ति वक्र दीर्घकाल में तो दाहिनी ओर उठते हुए बनता है, पर, अल्पकाल में यह ऊर्ध्वाकार भी हो सकता है।
- उत्पादक साधन के रूप में पूँजी एक दृष्टि से भूमि से भिन्न हो जाती है–सामान्यतः इसकी आपूर्ति को पुनः निर्माण द्वारा बढ़ाया जा सकता है।
- साधन की माँग में वृद्धि इसकी कीमत को बढ़ाने में सहायक होती है तो आपूर्ति की वृद्धि से कीमत कम होने लगती है।
- जब कोई श्रम संगठन बाजार संतुलन स्तर से अधिक मजदूरी दर नियत करता है तो बेरोजगारी नजर आने लगती है। इसका कारण यही है कि उच्च मजदूरी स्तर पर फर्में तो कम मजदूर रखना चाहती हैं पर श्रमिक अधिक या कम से कम पुराने स्तर पर ही श्रम की आपूर्ति बनाए रखना चाहते हैं।

▶▶▶ अभ्यास ◀◀◀

भाग-1

7.1 साधन बाजार में माँगकर्ता कौन होते हैं?

7.2 साधन बाजार में आपूर्तिकर्ता कौन होते हैं?

7.3 साधन कीमत निर्धारण किस केंद्रीय समस्या से जुड़ा है?

7.4 किसी साधन की TVP और TPP में क्या संबंध है?

7.5 किसी साधन की VMP और MPP के बीच क्या संबंध होता है।

7.6 किसी साधन की MPP और VMP में क्या अंतर होता है?

7.7 साधन के VMP वक्र से इसके TVP वक्र की व्युत्पत्ति कैसे करते हैं?

7.8 यदि साधन की VMP धनात्मक हो तो उसकी TVP पर क्या प्रभाव होता है?

7.9 साधन की VMP ऋणात्मक होने का उसके TVP पर क्या प्रभाव होता है?

7.10 साधन कीमत रेखा से साधन का समस्त भुगतान कैसे ज्ञात करते हैं?

7.11 साधन की VMP और उसके माँग वक्र में क्या संबंध होता है?

7.12 साधन माँग वक्र के स्थान परिवर्तन (खिसकाव) के लिए उत्तरदायी किन्हीं **दो** कारकों के नाम बताएँ।

7.13 संतुलन मजदूरी दर से श्रम संघ द्वारा नियत मजदूरी का प्रायः क्या संबंध होता है?

भाग-2

7.14 रोजगार स्तर L = 4 पर TVP = 50 इकाई तथा L = 5 पर इसका स्तर 65 इकाई है। वस्तु की कीमत 3 रुपए प्रति इकाई है। L = 5 पर साधन की MPP ज्ञात करें।

7.15 वस्तु की बाजार कीमत 5 रुपए है। एक साधन की TPP सारणी हमने निम्न तालिका में रखी है। इसकी VMP सारणी का आकलन करें।

साधन का प्रयोग	TPP (इकाइयाँ)
0	0
1	8
2	20
3	32
4	42
5	50
6	56
7	60
8	62

7.16 किसी साधन का कुल भुगतान 12000 रुपए है। साधन कीमत 40 रुपए है। उसकी कितनी इकाइयों का प्रयोग हो रहा है?

7.17 मान लो कि वस्तु की कीमत 10 रुपए है और इसे उत्पादित कर रहे किसी साधन की प्रत्येक इकाई को 70 रुपए दिए जाते हैं। ह्रासमान साधन प्रतिफल नियम लागू है। रोजगार के किसी स्तर पर MPP = 51 है दर्शाइए कि इस स्तर पर लाभ अधिकतम नहीं हो सकता। लाभ बढ़ाने के लिए फर्म को रोजगार में वृद्धि करनी चाहिए या कमी?

7.18 व्याख्या कीजिए कि साधन माँग को व्युत्पन्न माँग क्यों कहा जाता है।

7.19 विभिन्न साधनों की कमाई के बारे में सीमांत उत्पादिता सिद्धांत हमें क्या जानकारी देता है?

7.20 समझाइए कि कुशल श्रमिकों की अकुशल श्रमिकों की अपेक्षा अधिक कमाई क्यों होती है।

7.21 किसी साधन की आपूर्ति में वृद्धि इसकी कीमत को कैसे प्रभावित करेगी?

7.22 दुर्भाग्यवश भूकंप ने किसी शहर में संपत्ति को व्यापक हानि पहुँचाई है। अनेक ऐसे गृह खंड, जो किराए पर दिए जाते थे धराशायी हो गए हैं। अन्य बातें पूर्ववत् रहते हुए इस कारण से गृह खंडों के माँग वक्र पर प्रभाव क्या होगा ? आपूर्ति वक्र पर यह प्रभाव कैसा होगा? इसका मासिक किराए की दर पर क्या प्रभाव रहेगा?

7.23 प्रौद्योगिकीय प्रगति/उन्नति से कुशल श्रमिकों की MPP में वृद्धि हो गई है। इसका उनकी मजदूरी दर पर क्या प्रभाव होगा? यदि इस तकनीकी प्रगति ने अकुशल श्रमिकों की MPP में कमी कर दी हो तो उसका उनकी मजदूरी की दर पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

भाग-3

7.24 साधन की VMP उसकी कीमत के समान होने से लाभ किस प्रकार अधिकतम हो जाता है? व्याख्या करें।

7.25 व्याख्या करें कि पूर्ण प्रतियोगिता के अंतर्गत किसी आदान की VMP वक्र के इसका माँग वक्र क्यों मान लिया जाता है।

तुलनात्मक लाभ, अंतरराष्ट्रीय व्यापार और साधनों की गतिशीलता

अध्याय

8.1 रिकार्डो का तुलनात्मक लाभों का सिद्धांत और व्यापार से लाभ

8.2 अंतरराष्ट्रीय व्यापार का संसाधन निधि सिद्धांत

8.3 साधन गतिशीलता/प्रवाह

पिछले अध्यायों में हमने उत्पादकों और परिवारों के बीच वस्तु और संसाधन या आदान बाजारों में परस्पर लेन-देन के संबंधों का अध्ययन किया है। इन लेन-देनों को हमने विनिमय या **व्यापार** की संज्ञा दी है—क्योंकि इसमें एक पक्ष दूसरे को कुछ न कुछ दे रहा है। वह देना एक पक्षीय नहीं है। उसके बदले में उस पक्ष से पहले पक्ष को कुछ प्रतिदान भी मिलता है। यही नहीं दोनों पक्षों द्वारा किए गए आदान-प्रदान के मूल्यों में **साम्य** भी होता है। उत्पादकों और उपभोक्ताओं के ये सममूल्य आधारित आदान-प्रदान उनके अपने देश की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रह जाते। यह व्यापार-विनिमय तो अंतरराष्ट्रीय स्तर पर (देशों की सीमाओं के आर-पार) भी चलता है। इसे ही **अंतरराष्ट्रीय व्यापार** कहा जाता है। एक उदाहरण—भारत दुनिया के अनेक देशों को चाय बेचता है तथा कुछ देशों से पैट्रोलियम की खरीदारी करता है। आज भारत में अनेक विदेशी बैंक कार्य कर रहे हैं उनसे बैंक सेवाएँ प्राप्त करना विदेशों से ऐसी सेवाओं का आयात माना जाता है। यह सेवाओं के व्यापार का उदाहरण है।

इस अध्याय में हम अंतरराष्ट्रीय व्यापार के कुछ मूल सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे। यह विषय एक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। आज विश्व के देशों में 30-40 वर्ष पूर्व की तुलना में परस्पर निर्भरता में बहुत वृद्धि हो चुकी है (विश्व के देशों की अर्थव्यवस्थाएँ एक दूसरी के साथ जुड़ती या गुंथती जा रही हैं)।

इसी अध्ययन की प्रक्रिया में हम अर्थशास्त्र की एक बहुत महत्त्वपूर्ण अवधारणा को भी समझ पाएँगे। इसे **तुलनात्मक**

लाभ का सिद्धांत कहते हैं। इसी को लागतों में **तुलनात्मक अंतर या तुलनात्मक लागतों** की अवधारणा भी कह दिया जाता है। इसी अवधारणा के माध्यम से हम यह गुत्थी भी सुलझा पाएँगे कि अंतरराष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने से क्यों कोई हानि नहीं होती। यहाँ यह बात भी समझ आ जाएगी कि किस तरह व्यापार से एक देश को लाभ होने का अर्थ किसी अन्य को हानि होना नहीं होता। हम पाएँगे कि परस्पर व्यापार से वास्तव में परस्पर लाभप्रद आर्थिक कार्य सिद्ध होता है।

तुलनात्मक लाभ और व्यापार से लाभ की संकल्पनाएँ जिस विचार पर आधारित हैं उसे एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। वैसे हम तुलनात्मक लाभ की औपचारिक रूप से परिभाषा को 8.1 तक स्थगित रख रहे हैं। हम मान लेते हैं कि आप एक बहुत लोकप्रिय लोक गायक (Pop singer) हैं, साथ ही आप सिद्धहस्त पाक कला शास्त्री भी हैं। किंतु एक गायक के रूप में आप अधिक उत्पादक हैं-(यह अधिकता रसोइए के रूप में आपकी उत्पादकता की तुलना में ही है)। इसका तात्पर्य यही है कि यदि आपको गायन के किसी कार्यक्रम में बुलाया जाता है तो आपको 5000 रुपए घंटा मिल जाते हैं, जबकि घंटे भर रसोइए का काम करने वाले व्यक्ति को आप केवल 300 रुपए पर रख सकते हैं। इसका अर्थ होगा कि यदि आपने खाना स्वयं बनाया तो आप 300 रुपए बचा लेंगे। आपके सामने एक विकल्प तो आत्म निर्भरता है—आप गायकी को अपना पेशा बनाते हुए भी अपना खाना स्वयं बनाते रह सकते हैं। दूसरा विकल्प है कि पूर्णकालिक आधार पर गायकी को ही आप अपने व्यवसाय के रूप में अपनाकर किसी खाना बनाने वाले (रसोइए) को (अपने घर पर) काम पर रख लें। आप इन दोनों में से किस विकल्प को चुनेंगे? हमारा विश्वास है कि आप दूसरे को ही बेहतर मान कर उसका चुनाव करेंगे। अब इसी उदाहरण पर एक अन्य दृष्टिकोण से विचार करें। पहला विचार—अर्थात गायन करना और स्वयं खाना बनाते हुए आत्मनिर्भर बने रहने का अर्थ होगा की आप अपनी दोनों गतिविधियों के बीच मोल-तोल अथवा प्रत्ययन नहीं कर रहे। इसके विपरीत रसोइया रखने वाला विकल्प यह बताता है कि आप जिस काम में अपेक्षाकृत कम कौशल संपन्न हैं, उस वस्तु या सेवा का **आयात** कर रहे हैं। जिस काम में आप अधिक कुशल है उसके उत्पादन का **निर्यात** कर रहे हैं।

जो बात उपर्युक्त उदाहरण में किसी व्यक्ति के लिए कही गई है, वही बात अंतरराष्ट्रीय व्यापार के संदर्भ में किसी भी देश पर लागू हो सकती है। यदि कोई देश शेष विश्व से व्यापार करने से कतराते हुए सभी वस्तुओं का अपनी ही सीमाओं में उत्पादन करने का प्रयास नहीं करे तो ये दो दृष्टियों से बेहतर रहेगा। एक तो जिन वस्तुओं का ये (अन्य देशों की तुलना में) सस्ते में या कम लागत पर उत्पादन करने में समर्थ है, उनका उत्पादन बढ़ जाएगा और उस बढ़े हुए उत्पादन का एक हिस्सा निर्यात कर पाएगा। दूसरे—जिन वस्तुओं की उत्पादन लागत इस देश में अधिक रहती है, उनका उत्पादन घटकर, संभवतः बंद करके, बाहर से अपनी लागत से भी कम कीमत चुकाकर अपनी जरूरत का माल मंगाना आसान हो जाएगा। तुलनात्मक लाभों के सिद्धांत का यही आधार है। इसी बात को अन्य ढंग से कहना चाहें तो अभिप्राय: होगा—सभी देश अपने अंतरों का लाभ उठाते हुए व्यापार से लाभान्वित हो सकते हैं। इसी बात को और सीधे सरल शब्दों में इस प्रकार भी रखा जा सकता—आपमें और मुझमें कुछ अंतर है। मेरे पास ऐसा कुछ है जो आप चाहते हैं, पर आसानी से पा नहीं सकते। इसी प्रकार आपके पास भी कुछ चीज ऐसी है, जिसे मैं लेना चाहता हूँ पर मुझे वह वस्तु आसानी

से मिल नहीं पा रही। ऐसी स्थिति में क्या हम परस्पर व्यापार या लेन-देन करने लगें तो हम दोनों के लिए ही बेहतर नहीं होगा? अवश्य होगा।

इस सिद्धांत को सबसे पहले अंग्रेज अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो ने उद्घाटित किया था। हम अगले कुछ पृष्ठों में रिकार्डो के तुलनात्मक लाभों के सिद्धांत पर चर्चा करने जा रहे हैं। अंतरराष्ट्रीय व्यापार से किसी देश के लाभान्वित होने की प्रक्रिया की यह अत्यंत सरल किंतु बहुत ही सुंदर अभिव्यक्ति है। यद्यपि रिकार्डो ने इस विचार का प्रतिपादन लगभग दो सौ वर्ष पूर्व (उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में) किया था, किंतु आज भी इसकी प्रासंगिकता का स्पष्टत: अनुभव किया जाता है।

वास्तव में रिकार्डो का तुलनात्मक लाभों का सिद्धांत विभिन्न देशों के बीच प्रौद्योगिकीय अंतरों पर आधारित रहा है। संसाधन संपन्नता के अंतर भी तुलनात्मक लाभों की सुलभता को प्रभावित करते हैं। हम इस विषय पर भी इसी अध्याय में विचार करेंगे। अगले दोनों खंड इन्हीं दो प्रकार से तुलनात्मक लाभों में आने वाले अंतरों की व्याख्या से जुड़े हैं।

अंतरराष्ट्रीय व्यापार वस्तुओं और सेवाओं के विभिन्न देशों की सीमाओं के पार आवागमन से संबद्ध है। वास्तविक विश्व में तो हमें उत्पादक साधनों का भी देशों की सीमाओं के पार आना-जाना स्पष्ट दिखाई दे जाता है। हम अध्याय का समापन संसाधनों के इसी विश्व-व्यापी संचरण पर कुछ टिप्पणियों के साथ करेंगे।

8.1 रिकार्डो का तुलनात्मक लाभों का सिद्धांत और व्यापार से लाभ

इस सिद्धांत के मूल तत्व को स्पष्ट रूप से उजागर करने के लिए हमें कुछ मान्यताओं का सहारा लेना पड़ेगा। हम कल्पना कर रहे हैं कि (हमारे इस) विश्व में दो ही देश हैं–भारत (N) तथा आस्ट्रेलिया (A)। दोनों देश दो वस्तुओं का उत्पादन करने में समर्थ हैं–क्रिकेट बैट (बल्ले) और फुटबॉल। दोनों वस्तुओं के बाजार पूर्ण प्रतियोगी हैं। उत्पादन कार्य केवल एक संसाधन द्वारा पूरा हो जाता है–उसका नाम है श्रम (L)। दोनों देशों के पास इस संसाधन की पूर्व निर्धारित मात्रा या आपूर्ति है–इसे हम निधिकोष भी कह सकते हैं। मान लीजिए कि भारत और आस्ट्रेलिया की श्रम निधियाँ क्रमश: $L_N = 100$ तथा $L_A = 120$ हैं। दोनों वस्तुओं की एक-एक इकाई के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की मात्राएँ भी पूर्व निर्धारित हैं। इन मात्राओं को **श्रमगुणांक** भी कह सकते हैं। मान लो कि हमारे उदाहरण में ये श्रमगुणांक इस प्रकार हैं–

- भारत में एक फुटबॉल का निर्माण करने के लिए 20 इकाई श्रम चाहिए।
- भारत में एक क्रिकेट बैट का निर्माण करने के लिए 10 इकाई श्रम चाहिए।

इसी प्रकार

- आस्ट्रेलिया में एक फुटबाल के लिए 60 इकाई श्रम की आवश्यकता होगी।
- आस्ट्रेलिया में एक क्रिकेट बैट का निर्माण 14 इकाई श्रम कर पाता है।

इसी जानकारी को तालिका 8.1 में संक्षेप में दर्शाया जा सकता है–

तालिका 8.1

श्रम गुणांक

	भारत	आस्ट्रेलिया
क्रिकेट बैट	10	14
फुटबॉल	20	60

हमने अध्याय 3 में श्रम के औसत भौतिक उत्पादन के विचार पर चर्चा की थी। वह श्रमगुणांक का विलोम ही होता है। अत: जब हम यह बात करते

हैं कि श्रमगुणांक पूर्व निर्धारित है तो इसका अर्थ होगा कि श्रम की औसत भौतिक उत्पादिता स्थिर है।[1]

अब हम तुलनात्मक लाभों की औपचारिक परिभाषा के बहुत निकट पहुँच रहे हैं, बस दो विचारों का परिचय करना शेष है।

8.1.1 परम लाभ और तुलनात्मक लाभ

दो देशों में से यदि एक देश किसी वस्तु का परम रूप से अधिक दक्षतापूर्वक उत्पादन कर सकता हो तो हम कहेंगे कि उसे उस वस्तु के निर्माण में **परम लाभ** प्राप्त है। यदि वह देश दूसरे देश की तुलना में ही अधिक दक्षतापूर्वक अथवा कम अदक्षतापूर्वक उत्पादन कर पा रहा हो तो इसे **तुलनात्मक लाभ** की प्राप्ति कहा जाएगा।

आइए अब इन दोनों विचारों की तालिका 8.1 की जानकारी के प्रकाश में व्याख्या करें। स्पष्ट है कि भारत में दोनों वस्तुओं के निर्माण में कम साधन लागत की आवश्यकता रहती है। अत: उसे दोनों वस्तुओं के उत्पादन में **परम लाभ** प्राप्त है। आस्ट्रेलिया को किसी भी चीज़ के निर्माण में परम लाभ नहीं होता। इस अवस्था का कारण यही है कि दोनों चीज़ों को बनाने में भारत में प्रति इकाई श्रम की आवश्यकता आस्ट्रेलिया की अपेक्षा कम है। आइए हम जानने का प्रयास करें कि इस परम लाभ के भारत के पक्ष में ही, विभाजन के बावजूद किस देश को किस वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ सुलभ होगा। तालिका 8.1 के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारत में फुटबाल तथा क्रिकेट बैट उद्योगों में श्रमगुणांक अनुपात 20/10 = 2 है। आस्ट्रेलिया में यही गुणांक 60/15 = 4 बनता है। अत: भारत में श्रम फुटबॉल के उत्पादन में अधिक कुशल है। अर्थात, भारत को फुटबॉल उत्पादन में **तुलनात्मक लाभ** हासिल है। वैसे आस्ट्रेलिया दोनों वस्तुओं के उत्पादन में भारत की तुलना में कम दक्ष है, किंतु फिर भी उसकी यह कम दक्षता क्रिकेट बैट के निर्माण में सापेक्ष दृष्टि से भारत से कम रह जाती है। अत: आस्ट्रेलिया को क्रिकेट बैट उद्योग में तुलनात्मक लाभ प्राप्त होते हैं।

एक बात ध्यान रखें–**दोनों देशों को एक ही वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त नहीं हो सकता।**

8.1.2 उत्पादन संभावना वक्र

हमारे पास दोनों देशों की श्रमनिधियों तथा दोनों उद्योगों में उनके श्रमगुणांक तो हैं ही। हम इन जानकारियों के आधार उनकी (उन देशों की) उत्पादन संभावना वक्रों (PPC) की रचना कर सकते हैं। ये वक्र अंतरराष्ट्रीय व्यापार के किसी देश पर प्रभावों की समीक्षा करने में बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे।

हमने अध्याय 1 में PPC वक्र और सीमांत अवसर लागत की अवधारणा की चर्चा की थी। इसका अभिप्राय किसी वस्तु की मात्रा के उस त्याग से है जिसे दूसरी वस्तु की एक अधिक इकाई का उत्पादन करने के लिए सहन करना पड़ता है। अब भारत के संदर्भ में बात करते हैं। क्रिकेट बैट और फुटबॉल उद्योगों के बीच कोई न कोई प्रारंभिक श्रम आबंटन तो अवश्य होगा (क्योंकि देश में दोनों का उत्पादन चल रहा है)। अगर हम एक अतिरिक्त फुटबॉल का उत्पाद करना चाहें तो क्या होगा? हमारी तालिका 8.1 बता रही है कि हमें 20 और इकाई श्रम की आवश्यकता होगी। यही फुटबॉल उद्योग का श्रम गुणांक है। किंतु ये श्रम इकाइयाँ तो हम क्रिकेट उद्योग से हटाकर ही फुटबॉल उद्योग में लगा पाएँगे। इसका अर्थ होगा कि हमें बैटों के वर्तमान उत्पादन में

[1] *इस विशेषता के कारण श्रम की सीमांत उत्पादित भी स्थिर रहेगी।*

कमी सहन करनी पड़ेगी। अर्थात, 20 श्रम इकाइयाँ क्रिकेट बैट उद्योग से फुटबॉल उद्योग को अंतरित करने से क्रिकेट बैटों के उत्पादन में कमी अवश्य होगी। यह कभी कितनी होगी? इसका आकलन बहुत सरल है। इसका मान होगा हटाई गई श्रम इकाइयों की संख्या और क्रिकेट बैट उद्योग के श्रमगुणांक। दूसरे शब्दों में क्रिकेट बैटों के उत्पादन में आई कमी 20/10=2 होगी। अत: एक फुटबॉल की सीमांत अवसर लागत दो क्रिकेट बैट है।

एक बात पर ध्यान दें। हमारे इस उदाहरण में श्रमगुणांकों की स्थिरता के कारण प्रत्येक प्रारंभिक साधन आबंटन स्थिति में फुटबॉल की सीमांत अवसर लागत 2 क्रिकेट बैट ही रहती है। दूसरे शब्दों में यहाँ सीमांत अवसर लागत स्थिर रहती है। इसी प्रकार से गणना करके आप देख सकते हैं कि आस्ट्रेलिया में भी फुटबाल की अवसर लागत स्थिर रहती है। पर वहाँ इसका मान 60/15 = 4 होगा। अत: स्थिर श्रमगुणांकों का अर्थ है कि PPC वक्र पर दोनों ही वस्तुओं की सीमांत अवसर लागतें स्थिर रहेंगी। अध्याय 1 से ही हम यह भी जानते हैं कि स्थिर सीमांत अवसर लागत की दशा में PPC सरल रेखीय हो जाता है। अत: रिकार्डो द्वारा चर्चित अर्थव्यवस्थाओं की PPC सदैव सरल रेखीय ही रहेगी। चित्र 8.1 में भारत और आस्ट्रेलिया के PPC वक्र दिखाए गए हैं। आपको ध्यान होगा कि भारत की श्रम आपूर्ति/श्रम निधि $L_N = 100$। अत: इस के सारे श्रम का फुटबॉल उत्पादन में प्रयोग होने पर यहाँ 100/20 = 5 फुटबॉल बन सकते हैं। इसी प्रकार सारी श्रम शक्ति का प्रयोग केवल क्रिकेट बैट बनाने में किए जाने पर 100/10 = 10 बैटों का उत्पादन हो जाएगा। इन्हीं बिंदुओं को हमने चित्र 8.1(क) में क्रमश: फुटबॉल और क्रिकेट बैट अक्षों पर बिंदुओं D तथा E से दर्शाया है। इन दोनों बिंदुओं को मिलाने वाली सरल रेखा भारत की DE है। इसी प्रकार से हमने आस्ट्रेलिया की PPC की रचना चित्र 8.1 (ख) में दिखाई है। यह GH रेखा द्वारा इंगित है।

8.1.3 : शून्य व्यापार की अवस्था

अंतरराष्ट्रीय व्यापार का किसी राष्ट्र के आर्थिक जीवन में महत्त्व जानने का सबसे अच्छा तरीका यही है कि हम व्यापार शून्यता की स्थिति से अपना विचार क्रम प्रारंभ करें। इस प्रकार की व्यापार शून्य विश्व अर्थव्यवस्था की चार प्रमुख विशेषताएँ होंगी–

(क) भारत

(ख) ऑस्ट्रेलिया
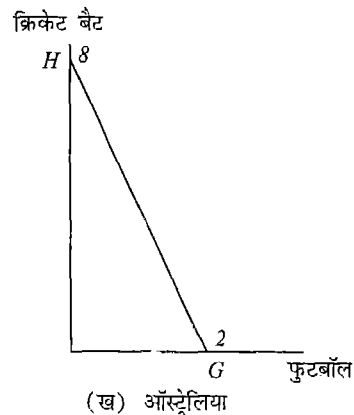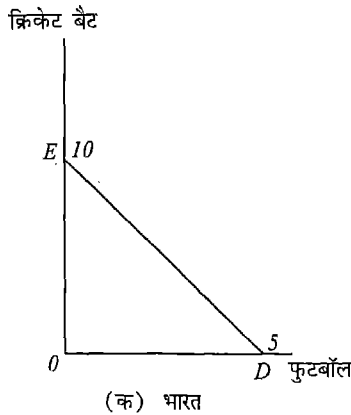
चित्र 8.1 : उत्पादन संभावना वक्र

1. व्यापार की संभावनाएँ शून्य होने के कारण प्रत्येक देश में किसी भी वस्तु का उपभोग उनके आंतरिक उत्पादन से अधिक नहीं हो पाएगा। दूसरे शब्दों में उत्पादन संभावना सीमा वक्र समाज की उपभोग संभावना सीमा भी बन जाती है। कोई अर्थव्यवस्था अपने PPC द्वारा निर्धारित सीमा से बाहर निकल कर उपभोग नहीं कर पाती। हमारे उदाहरण में भारत की उपभोग संभावना DE तथा आस्ट्रेलिया की GH होगी।
2. दोनों देशों में एक वस्तु की इकाई में दूसरे की सापेक्ष कीमत को जान-समझ लेना भी बहुत उपयोगी रहेगा। दोनों वस्तुओं का उत्पादन पूर्ण प्रतियोगी बाजार संरचना के अंतर्गत होता है। हम यह भी जानते हैं कि अध्याय 6 में हमने पाया था कि बाजार में निर्बाध आगम-निर्गम के प्रभाव स्वरूप लाभ शून्य हो जाता है। अतः प्रत्येक उद्योग में कीमत औसत लागत के समान हो जाएगी। हमारी इस केवल एक साधन वाली अर्थव्यवस्था में औसत लागत का मान भी वस्तु की एक इकाई के लिए आवश्यक श्रम इकाइयों को मजदूरी दर से गुणा कर प्राप्त हो जाएगा। मान लो कि भारत में मजदूरी दर W_N है। अतः यहाँ फुटबॉल की औसत लागत $W_N \times 20$ रुपए होगी। एक फुटबॉल की बाजार कीमत P_F भी इसी के समान होनी चाहिए। इसी प्रकार की गणना द्वारा हम जान सकते हैं कि $P_C = W_N \times 10$ रुपए। यहाँ P_C एक क्रिकेट बैट की बाजार कीमत है। अतः फुटबॉल की क्रिकेट बैट से सापेक्ष कीमत $P_F/P_C = (W_N \times 20) \div (W_N \times 10)$ होगी अर्थात, यदि आपके पास एक फुटबॉल हो तो उसे बाजार में बेच कर (प्राप्त रुपयों से) आप दो क्रिकेट बैट खरीद सकेंगे। ध्यान दें क्रिकेट बैट की फुटबॉल से सापेक्ष कीमत इसकी विलोम होगी अर्थात 1/2 होगी। अतः सामान्य रूप से एक वस्तु की किसी अन्य वस्तु के सापेक्ष कीमत दूसरी वस्तु की उन इकाइयों के समान होती है जिन्हें इस वस्तु की एक इकाई के बदले में पाया जा सकता है। यह दो वस्तुओं के बीच विनिमय की दर है। अतः भारत में (अंतरराष्ट्रीय व्यापार नहीं होने पर) फुटबॉल और क्रिकेट बैट की विनिमय दर होगी–

   एक फुटबॉल = दो क्रिकेट बैट

   हम इसी प्रकार आस्ट्रेलिया में भी विनिमय दर का आकलन कर सकते हैं। ये होगी–

   एक फुटबॉल = चार क्रिकेट बैट।

   इन विनिमय दरों को हम **घरेलू विनिमय दरें** कह सकते हैं।
3. विनिमय दरों और सीमांत अवसर लागतों का हमारा आकलन यह स्पष्ट कर देता है कि प्रत्येक देश में किसी वस्तु की सापेक्ष कीमत उसकी सीमांत अवसर लागत के समान होती है, क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता में कीमत सीमांत लागत के भी समान होती है। उदाहरण के लिए आस्ट्रेलिया में एक फुटबॉल की सीमांत अवसर लागत भी 4 क्रिकेट बैट ही आकलित हुई है।
4. विनिमय दरों की तुलना से यह बात तो स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है कि भारत में फुटबॉल अपेक्षाकृत सस्ता है, इसे फुटबॉल के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ सुलभ है और आस्ट्रेलिया में क्रिकेट बैट सस्ते हैं। उसे उनके उत्पादन में तुलनात्मक लाभ सुलभ हैं। ये निष्कर्ष सापेक्ष कीमतों की तुलना पर ही आधारित हैं। इनके लिए कोई अन्य विशेष विश्लेषण की आवश्यकता नहीं होती।

अब हम अंतरराष्ट्रीय व्यापार के प्रभावों को अच्छी तरह से समझ सकते हैं।

8.1.4 अंतरराष्ट्रीय व्यापार के प्रभाव

आइए अब भारत और आस्ट्रेलिया के बीच व्यापार प्रारंभ करा दें। यही नहीं, यह व्यापार पूरी तरह से **स्वतंत्र** व्यापार होना चाहिए। इसमें व्यापार शुल्कों अथवा आयात-निर्यात की मात्राओं की सीमाओं के निर्धारण आदि के कारण कोई व्यवधान नहीं होना चाहिए। हम ये भी मान लेते हैं कि इन वस्तुओं की परिवहन लागत शून्य है। हम इन बहुत **सख्त** मान्यताओं को इसलिए स्वीकार नहीं कर रहे कि ये विश्लेषण के लिए आवश्यक हैं। वस्तुत: इन्हें स्वीकार करने पर हम व्यापार के प्रभावों को बहुत ही स्पष्ट रूप में चित्रित कर सकते हैं (इसी कारण हम इन्हें शुरू में स्वीकार कर लेते हैं)।

हमारी उपर्युक्त मान्यताओं का पहला प्रभाव तो यही होगा कि दोनों अर्थव्यवस्थाओं में वस्तुओं की विनिमय दरें एक समान हो जाएँगी। यदि एक देश में एक वस्तु सस्ते दामों पर मिल रही है तो दोनों देशों के खरीदार वहीं से खरीदारी करने लगेंगे। इसके प्रभाव स्वरूप वहाँ उस वस्तु की कीमत में कुछ वृद्धि हो जाएगी। इस प्रकार संतुलन की दशा में विनिमय दरें समान हो जाएँगी। इस समान विनिमय दर को हम **विश्व विनिमय दर** अथवा विश्व व्यापार शर्त का नाम दे देते हैं।

विश्व व्यापार शर्त का विस्तार

विश्व विनिमय दर का मान कितना हो सकता है? हमारा अगला प्रश्न यही है कि संतुलन की स्थिति में विश्व व्यापार शर्त या विनिमय दर का मान कितना होगा। यह विश्व विनिमय दर एक सापेक्ष कीमत ही है और अध्याय 5 में हमने यह भी जाना था कि किसी वस्तु की संतुलन कीमत का निर्धारण माँग और आपूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है। किसी अर्थव्यवस्था की आपूर्ति शक्तियों का यहाँ पर प्रतिनिधित्व PPC कर रही है किन्तु अभी हमारे पास माँग पक्षीय जानकारी नहीं है। अत: अभी हम विश्व विनिमय दर का आकलन कर पाने में समर्थ नहीं हैं। फिर भी हम यह तो बता ही सकते हैं कि इसका मान किन दो सीमाओं के भीतर रहेगा—अर्थात इसका न्यूनतम संभव मान क्या होगा और अधिकतम मान क्या हो सकता है। ये मान वास्तव में दोनों देशों के घरेलू कीमत अनुपातों (अथवा सापेक्ष कीमत स्तरों) के बीच कहीं तय हो पाएगा। इसका अभिप्राय होगा कि फुटबॉल की विश्व सापेक्ष कीमत 2 से 4 क्रिकेट बैट के बीच कहीं निर्धारित हो जाएगी। इसका क्या कारण होगा? मान लो कि यह 4 से अधिक, 5 क्रिकेट बैट प्रति फुटबॉल हो जाती है। दोनों ही देशों को लगेगा कि फुटबॉल बनाकर निर्यात करने से उन्हें व्यापार शून्यता की अपेक्षा अधिक **बैट** मिल सकते हैं। अत: दोनों ही फुटबॉलों का उत्पादन बढ़ाकार उसे निर्यात करने का प्रयास करेंगे। पर इस दो देशीय विश्व अर्थव्यवस्था में तीसरा देश तो है ही नहीं—तो इन्हें खरीदार कहाँ से मिलेंगे? अगर दो से अधिक देश हों तो भी उन्हें **घरेलू क्षेत्र** तथा शेष विश्व के दो समूहों में बाँटा जा सकता है—फिर तो हमारा उपर्युक्त तर्क ही उन पर भी लागू हो जाएगा। उपर्युक्त तर्क का दूसरा पक्ष भी है। मान लो कि 2 से कम क्रिकेट बैट के बदले एक फुटबाल मिलने लगे तो दोनों देश फुटबॉल आयात करना चाहेंगे पर यह भी संभव नहीं हो पाएगा। आखिर वे आयात किस देश से कर पाएँगे? वे दोनों ही **समग्र विश्व** हैं। अत: यह बात तो सिद्ध हो जाती है कि संतुलन की दशा में विश्व व्यापार शर्त या विनिमय दर दो घरेलू विनिमय दरों के बीच कहीं होगी। आइए अब इससे आगे बढ़ें। हम एक और मान्यता की रचना कर रहे हैं। हम मान लेते हैं कि विश्व विनिमय दर दोनों घरेलू विनिमय दरों के एकदम मध्य में निर्धारित हो जाती है, अर्थात (उदाहरण स्वरूप) उनका मान होता है—

एक फुटबॉल = तीन क्रिकेट बैट

विशिष्टीकरण

आइए अब यह जानने का प्रयास करें कि कौन-सा देश किस वस्तु का कितना उत्पादन करेगा। भारत के विचार से एक फुटबॉल की सापेक्ष कीमत 3 क्रिकेट बैट है। यह उसकी सीमांत अवसर लागत से अधिक है इसका अर्थ होगा कि फुटबॉल उद्योग में असामान्य लाभ कमाने का अवसर पैदा हो गया है। अतः संसाधन क्रिकेट बैट उद्योग से पलायन कर फुटबॉल उत्पादन में जुट जाएँगे। यह पलायन तब तक चलता रहेगा जब तक कि क्रिकेट बैट उद्योग पूरी तरह बंद नहीं हो जाता। दूसरे शब्दों में भारत में केवल फुटबॉल का उत्पादन होने लगेगा। याद रहे कि फुटबॉल बनाना ही वह उद्योग है जिसमें भारत को तुलनात्मक लाभ सुलभ है। इसी प्रकार के तर्कों के आधार पर हम पाएँगे कि ऑस्ट्रेलिया में फुटबॉल निर्माण बंद हो जाएगा। वहाँ सारी श्रमशक्ति को केवल क्रिकेट बैट बनाने में लगा दिया जाएगा। जिस प्रकार भारत अपने तुलनात्मक लाभ वाले उद्योग में विशिष्टीकरण करता है उसी प्रकार आस्ट्रेलिया भी अपने तुलनात्मक लाभ उद्योग में विशिष्टीकरण प्राप्त कर लेता है। इस विशिष्टीकरण का कारण विश्व विनिमय दर का घरेलू विनिमय दरों से अलग होना ही है। हम इसी बात को चित्र 8.2 में दिखा रहे हैं। इसमें मूलतः हम चित्र 8.1 में दर्शाए गए भारत और आस्ट्रेलिया के उत्पादन संभावना वक्रों का ही प्रयोग कर रहे हैं उन वक्रों को हल्की रेखाओं द्वारा दिखाया गया है। स्वतंत्र व्यापार की दशा में भारत व आस्ट्रेलिया क्रमशः D तथा H बिंदुओं पर उत्पादन करेंगे।

अब हम संक्षेप में कह सकते हैं–**रिकार्डो की विश्व अर्थव्यवस्था में जब तक विश्व विनिमय दर घरेलू विनिमय दर से भिन्न होगी, एक देश उसी वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता रहेगा जिसके उत्पादन में उसे तुलनात्मक लाभ सुलभ होते हैं।** इस प्रकार से अंतरराष्ट्रीय व्यापार किसी देश के भीतरी क्षेत्रों में संसाधनों के आबंटन और वस्तुओं/सेवाओं के उत्पादन को प्रभावित करता है।
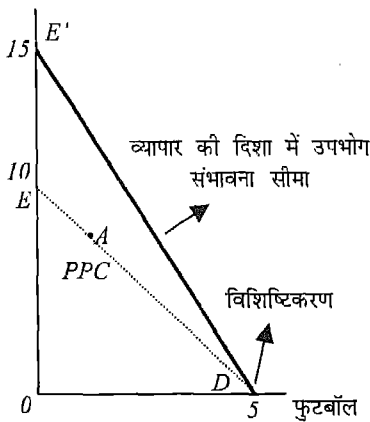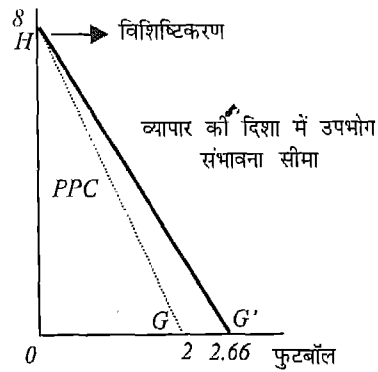
चित्र 8.2 : रिकार्डोवादी अर्थव्यवस्था में स्वतंत्र अंतरराष्ट्रीय व्यापार

उपभोग संभावनाएँ

अब हम अपने इस विचार विमर्श के अंतिम पड़ाव पर पहुँच रहे हैं। दोनों देशों के समक्ष उपभोग की क्या संभावनाएँ हैं और उन पर अंतरराष्ट्रीय व्यापार के क्या प्रभाव हो सकते हैं? किंतु इस प्रश्न पर चर्चा के आरंभ से पूर्व हमें **निर्यात** और **आयात** का अर्थ समझ लेना चाहिए। किसी वस्तु का **निर्यात** उसके उत्पादन की उपभोग पर अधिकता है। इसी प्रकार वस्तु के उपभोग की उत्पादन पर अधिकता को **आयात** का नाम दिया जाता है। किसी देश से निर्यात का अर्थ है वहाँ उत्पादन का स्तर उपभोग से अधिक है। दूसरी ओर उत्पादन की अपेक्षा अधिक उपभोग आयात का कारण बन जाता है।

चित्र 8.2 में भारत का उत्पादन बिंदु D है। अत: उसकी एक उपभोग संभावना तो यही बिंदु होती है। कुछ और संभावनाएँ भी हैं। यह एक फुटबॉल का निर्यात कर 3 क्रिकेट बैट आयात कर सकता है, या दो फुटबॉलों का निर्यात और 6 क्रिकेट बैट का आयात कर सकता है आदि। इन्हीं संभावनाओं का प्रयोग कर हमने गहरी रेखा DE' बनाई है। इसका ढाल 3 है–जो विश्व विनिमय दर के समान है।[2] दूसरे शब्दों में विश्व विनिमय दर पर व्यापार के सहारे एक फुटबॉल के बदले 3 क्रिकेट बैट पा रहे भारत की उपभोग संभावना वक्र गहरी रेखा DE' है। यह अवस्था व्यापार शून्य स्थिति से निश्चित रूप से बेहतर है। उस दशा में तो भारत की उपभोग संभावनाएँ उसकी उत्पादन संभावना वक्र तक ही सीमित रह जाती थीं। चित्र में आप देख सकते हैं कि PPC पूरी तरह से व्यापार सहित उपभोग सीमा के **भीतर** रहती है। आप स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि PPC के छोर बिंदुओं को छोड़ अन्य सभी के लिए DE' वक्र पर उससे अधिक ऐसे बिंदु उपलब्ध हैं जिन पर PPC की अपेक्षा अधिक उपभोग संभव होगा। अत: व्यापार शून्यता की अपेक्षा स्वतंत्र व्यापार कहीं श्रेयस्कर होगा।

इसी प्रकार के तर्कों के सहारे हम देख सकते हैं कि आस्ट्रेलिया की उपभोग संभावनाएँ G'H द्वारा दिखाई जा सकती हैं–यह वक्र विश्व विनिमय दर के समान ढाल (= 3) के आधार पर बनाया गया है। यह उपभोग संभावना वक्र PPC से बाहर रहता है। अत: आस्ट्रेलिया को भी स्वतंत्र व्यापार से लाभ रहता है।

एक और बात पर विचार करें। DE' तथा G'H पर भी बिंदुओं का चयन करके देख लें। भारत फुटबॉल का निर्यात करता मिलेगा और आस्ट्रेलिया क्रिकेट बैटों का दूसरे शब्दों में **प्रत्येक देश उसी वस्तु का निर्यात करता है जिसमें उसे तुलनात्मक लाभ सुलभ है और उसने विशिष्टीकरण प्राप्त कर लिया है**। यही विश्व व्यापार का सर्वग्राह्य/सर्वमान्य सिद्धांत है।

रिकार्डो के सिद्धांत के अध्ययन से हमें यही सीख मिलती है कि विशिष्टीकरण और अपने तुलनात्मक लाभ वाले उद्योग के उत्पादन में से निर्यात के माध्यम से कोई देश विश्व व्यापार से लाभ उठा सकता है। यह बात उस स्थिति में भी लागू रहती है जहाँ एक देश सभी वस्तुओं के उत्पादन में परम रूप से अधिक दक्ष हो।

8.2 अंतरराष्ट्रीय व्यापार का संसाधन निधि सिद्धांत

रिकार्डो के सिद्धांतों की रचना में प्रोद्योगिकीय अन्तर ही तुलनात्मक लाभों का आधार है। इन्हीं के कारण परस्पर लाभ वाला व्यापार होता है। यदि दो

[2] *सरल रेखा ढाल का विचार परिशिष्ट–2 में समझाया गया है।*

देशों के श्रमगुणांकों के अनुपात एक समान हों तो किसी को किसी भी वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ सुलभ नहीं होंगे। फिर तो उनके पास आपस में लेन-देन करने का भी कोई कारण नहीं बचेगा। यदि किसी तरह से उनके बीच व्यापार आरंभ भी हो जाए तो दोनों की आंतरिक अवस्थाओं में कुछ भी बदलाव नहीं आएगा।

परंतु तुलनात्मक लाभ और व्यापारिक आधार की रचना केवल प्रौद्योगिकीय अंतरों पर नहीं टिकी होती। हम अभी जिस नए विचार से आपको परिचित करा रहे हैं वह भी तुलनात्मक लाभों के सृजन में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उस विचार को **संसाधन-निधि सिद्धांत** कहते हैं।[3]

हम एक बार केवल दो देशीय विश्व अर्थव्यवस्था के सहारे ही अपने विश्लेषण के सूत्रों को विकसित करेंगे। ये देश भारत (N) तथा अमेरिका (A) हैं। ये दो वस्तुओं, कुर्सियों (C) तथा औषधियों (M) का उत्पादन करते हैं। अब हम केवल एक उत्पादक साधन के दायरे से बाहर निकल दो उत्पादक साधनों, श्रम और पूँजी की मान्यता की रचना कर रहे हैं। इन दोनों संसाधनों का दोनों वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग होता है। हम तकनीकी ज्ञान के जिस स्वरूप की यहाँ कल्पना कर रहे हैं उसे हम पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्रतिमान के नाम से जानते हैं। यही नहीं, दोनों देशों में उपलब्ध तकनीकी ज्ञान में भी कोई अंतर नहीं है। हमारी अगली मान्यता है कि कुर्सियों का उत्पादन अपेक्षाकृत श्रम सघन तकनीकों द्वारा होता है, पर औषधि निर्माण की तकनीकों में पूँजी का अधिक प्रयोग किया जाता है।[4]

आओ हम यह भी मान लें कि दोनों देशों में दोनों संसाधनों की पूर्व निश्चित मात्राएँ उपलब्ध हैं। जैसे रिकार्डो के सिद्धांत में उपलब्ध श्रम को श्रम निधि माना गया था, उसी प्रकार यहाँ उपलब्ध संसाधनों (श्रम और पूँजी) के भंडार को हम संसाधन-निधि का नाम दे रहे हैं।

8.2.1 संसाधन-निधि अंतर

भारत में उपलब्ध संसाधनों के परिमाण L_N तथा K_N क्रमशः श्रम और पूँजी हैं। इसी प्रकार अमेरीका में उपलब्ध श्रम और पूँजी को L_A तथा K_A द्वारा दिखाया जा रहा है। ये संसाधन निधियाँ परिमाण सूचक या **परम** हैं। इनके अनुपात को **सापेक्ष संसाधन-निधि** कहा जाता है। उदाहरण के लिए L_N / K_N को हम भारत में श्रम की सापेक्ष निधि कह सकते हैं।

सापेक्ष निधि की परिभाषा के बाद विभिन्न देशों की इन निधियों के आधार पर तुलना हो सकती है। हमारे वर्तमान उदाहरण में हम भारत को एक **सापेक्षतया श्रम-बहुल** देश तथा अमेरीका को सापेक्षतया **पूँजी बहुल देश** कहेंगे यदि–

(क) $\left(\frac{L_N}{K_N} > \frac{L_A}{K_A}\right)^5$

इस मान्यता को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होती, क्योंकि हम जानते ही हैं कि भारत में अमेरीका की तुलना में श्रम का बाहुल्य है।

---

[3] *इस सिद्धांत की दो स्वीडिश अर्थशास्त्रियों ऐली हैक्शर और वर्टिल ओहलिन ने की है। इसे हैक्शर ओहलिय-सिद्धांत भी कहा जाता है।*

[4] *साथ ही सभी बाजारों को पूर्ण प्रतियोगी माना जा रहा है। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि इन देशों में तकनीकी भिन्नताएँ नहीं हो सकती किन्तु यहाँ हमारा आग्रह इन भिन्नताओं पर नहीं है सारा ध्यान संसाधन-निधियों के अन्तर पर केंद्रित रहने वाला है।*

[5] *मान लें कि $L_N = 1500, K_N = 500$ तथा $L_A = 2000, K_A = 1000$। फिर तो $L_N/K_N = 1500/500 = 3$ तथा $L_A/K_A = 2000/1000 = 2$। अतः $L_N/K_N > L_A/K_A$*

8.2.2 संसाधन कीमत अंतर

हमारा अगला प्रश्न है कि संसाधन निधियों में सापेक्ष अन्तर का संसाधन कीमतों पर क्या प्रभाव होगा? हम यहाँ भी दो प्रकार की संसाधन कीमतों की परिभाषा कर रहे हैं, **संसाधन कीमतों में परम अंतर तथा संसाधन कीमतों में सापेक्ष अन्तर।**

सामान्यत: यदि दो देशों या क्षेत्रों में किसी साधन की कीमतों में अंतर हो तो हम कहेंगे कि इनकी कीमतों में परम (रूप से) अंतर हैं। उदाहरण–यदि भारत में श्रमिकों की दैनिक मजदूरी 50 रुपए हो और अमेरीका में 200 रुपए तो यह दोनों देशों की मजदूरी दरों में परम अंतर का सूचक होगा। हम यह भी कह पाएँगे कि भारत में मजदूरी की दर अमेरीका की तुलना में कम है (अथवा भारत में श्रम अमेरीका की तुलना में सस्ता है)। इसी प्रकार की बातें दोनों देशों में पूँजी के भाड़े के विषय में भी कही जा सकती हैं।

हमने (क) में सापेक्ष संसाधन निधियों को क्रमबद्ध किया था। क्या उस क्रमिकता के आधार पर भारत और अमेरीका के परम् साधन कीमत अंतरों के विषय में किसी निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है? नहीं। कारण यही है कि (क) द्वारा निरूपित क्रमिकता संसाधन निधियों के परम स्तरों के विषय में कोई जानकारी नहीं दे पाती। फिर भी इससे हमें सापेक्ष साधन कीमत अंतरों के विषय में अवश्य कुछ कहने में सहायता मिल सकती है। हम **साधन प्रतिफलों के अनुपात को ही सापेक्ष साधन कीमत कहते हैं।**

हम मान लेते हैं कि अमेरीका में एक मजदूर 200 रुपए कमाता है और एक इकाई पूँजी को प्रतिफल के रूप में 1000 रुपए मिलते हैं। भारत में मजदूरी और भाड़े की दरें क्रमश: 100 रुपए और 900 रुपए हैं। अत: स्पष्ट रूप से भारत में दोनों संसाधनों के प्रतिफलों के परम मान तो अमेरीका की तुलना में कम हैं। किंतु अमेरीका में मजदूरी-भाड़ा अनुपात भारत से अधिक है। वहाँ ये अनुपात 200/1000 = 1/5 है जब कि भारत में यह 100/900 = 1/9 बनता है। अत: हम कह सकते हैं कि अमेरीका में श्रम का सापेक्ष प्रतिफल अधिक है जबकि भारत में पूँजी का सापेक्ष प्रतिफल अधिक रहता है। वास्तव में हम इस निष्कर्ष पर (क) द्वारा निरूपित सापेक्ष संसाधन निधि क्रमिकता के सहारे ही पहुँचे हैं। इस निष्कर्ष की प्रक्रिया क्या है?

यहाँ अध्याय 7 का साधन कीमत निर्धारण विश्लेषण काम आ जाता है। वहाँ हमने देखा था कि संसाधन की आपूर्ति जितनी अधिक होती थी उसका प्रतिफल उतना ही कम रह जाता था। इसी परिणाम का हम यहाँ प्रयोग करने वाले हैं। हमारे वर्तमान संदर्भ में इसका अर्थ होगा–भारत (अमेरीका) सापेक्ष रूप में श्रम बहुल (पूँजी बहुल) है। अत: भारत में मजदूरी-भाड़ा अनुपात अमेरीका से कम होगा। दूसरे शब्दों में भारत सापेक्ष दृष्टि से न्यून मजदूरी देश है और अमेरीका उच्च सापेक्ष मजदूरी देश (भाड़े की दृष्टि से दोनों देशों की स्थिति उलट जाएगी, अमेरीका न्यून सापेक्ष भाड़ा देश बन जाएगा और भारत उच्च सापेक्ष भाड़ा देश होगा)।

8.2.3 तुलनात्मक लाभ

अब हम सापेक्ष संसाधन निधियों के अंतर द्वारा सृजित सापेक्ष साधन कीमत अंतरों द्वारा विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के प्रवाहों के निर्धारण की प्रक्रिया पर विचार आरंभ कर रहे हैं। आप स्वयं ये सोच कर देखें कि निम्न मजदूरी-भाड़ा अनुपात वाले देश में किस वस्तु के उत्पादन में अधिक दक्षता (अर्थात निम्न लागत) सहज होगी। दूसरी ओर, उच्च मजदूरी-भाड़ा अनुपात वाले देश में कौन-सी वस्तु का उत्पादन अधिक दक्षता (यानि कम लागत पर) हो पाएगा। ध्यान रहे कुर्सियों (C) का उत्पादन श्रम सघन है और औषधियों का उत्पादन पूँजी सघन तकनीकों द्वारा

होता है (यही हमारी भी मान्यता है)। तो कुल मिलाकर हमारा निष्कर्ष यही होगा कि श्रम सघन तकनीकों से उत्पादित वस्तु, कुर्सियों (C) का (न्यून) सापेक्ष मजदूरी वाले श्रम बहुल देश भारत में अपेक्षाकृत अधिक दक्षतापूर्वक उत्पादन हो पाएगा और पूँजी प्रधान तकनीक पर आधारित औषधियों (M) का न्यून सापेक्ष भाड़े वाले पूँजी बहुल देश अमेरीका में अधिक कौशलपूर्वक उत्पादन होगा।

इसी निष्कर्ष को तुलनात्मक लाभों के माध्यम से इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है—अपेक्षाकृत *श्रम* बहुल निम्न मजूदरी भाड़ा अनुपात वाले देश भारत को सापेक्ष रूप से श्रम सघन वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होगा तथा पूँजी बहुल उच्च *मजदूरी-भाड़ा* देश *अमेरीका* को *सापेक्ष रूप से* पूँजी सघन वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होगा।

8.2.4 अंतरराष्ट्रीय व्यापार

अभी तक हम संसाधन निधियों के अंतरों का सापेक्ष साधन कीमत अंतरों से संबंध स्थापित कर उन्हें तुलनात्मक लाभों के साथ जोड़ पाने में सफल रहे हैं। अब हम तुलनात्मक लाभ से अंतरराष्ट्रीय व्यापार तक पहुँचने का प्रयास करेंगे। यहाँ हमारी स्थापना कुछ इस प्रकार है—यदि व्यापार शून्यता से तुलना करें तो स्वतंत्र व्यापार की अवस्था में एक देश उस वस्तु का अधिक उत्पादन कर उसे निर्यात करेगा जिसमें उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त है।

अब हमारे पास संसाधन निधि से व्यापार तक की शृंखला की सभी कड़ियाँ तैयार हैं। हम कह सकते हैं—श्रम बहुल—निम्न सापेक्ष मजदूरी-भाड़ा अनुपात वाला भारत सापेक्षतः श्रम-सघन वस्तु, कुर्सियों, का निर्यात करेगा। दूसरी और पूँजी बहुल उच्च *मजदूरी-भाड़ा* अनुपात वाला देश अमेरीका अपने सापेक्षत: पूँजी सघन उत्पादन औषधियों का निर्यात करेगा। इस प्रकार संसाधन निधि अंतर और सापेक्ष साधन कीमत अंतरों का अंतरराष्ट्रीय व्यापार से संबंध स्थापित हो जाता है।

अगर आप एक बार सारे विचार-सूत्रों को दोहरा कर देखेंगे तो आपको यह निष्कर्ष बहुत उचित ही लगेगा। यही संसाधन निधि सिद्धांत का तत्व भी है। यह तुलनात्मक लाभों के आधार के रूप में संसाधन निधि अंतरों के महत्त्व पर बल देता है और इस आधार पर यह पूर्वानुमान व्यक्त करता है कि कोई देश उन्हीं वस्तुओं का निर्यात करेगा जिनके उत्पादन में इसके बहुलतापूर्ण संसाधन का अधिक सघनता से प्रयोग होता हो।

यहाँ तीन टिप्पणियाँ विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य हैं—

1. हमारे पिछले अध्यायों और रिकार्डो के सिद्धांत की *तुलना में संसाधन निधि सिद्धांत की हमारी यह* व्याख्या बहुत गहराई तक नहीं जा पाई है। हमने इसका ऊपरी तौर पर या सतही रूप से ही वर्णन किया है। इस सिद्धांत का विस्तृत और विधिवत अध्ययन तो आप अंतरराष्ट्रीय व्यापार से जुड़े किसी उच्च स्तरीय पाठयक्रम में ही कर पाएँगे।
2. हमने अध्याय 7 में संसाधनों की माँग को व्युत्पन्न माँग का नाम दिया था। इसका आधार यही था कि वस्तु बाजार का घटनाक्रम साधन बाजार को प्रभावित करता था। उसके विपरीत संसाधन निधि सिद्धांत हमें यह बताता है कि संसाधन संपन्नता के स्तर के अन्तर किस प्रकार से वस्तु बाजार तथा दो देशों के बीच वस्तुओं के प्रवाह के स्तर का निर्धारण करते हैं। अतः एक तथ्य सबसे महत्त्वपूर्ण होकर उभरता है—किसी भी अर्थव्यवस्था के साधन एवं उत्पादन (वस्तु) बाजारों में परस्पर घनिष्ठतापूर्ण संबंध होता है।
3. संसाधन-निधि सिद्धांत के केंद्रभूत निष्कर्ष को एक बार फिर याद करें। हमारे उदाहरण में सापेक्षत: श्रम बहुल भारत सापेक्ष रूप से श्रम-सघन वस्तुओं का निर्यात करता है और सापेक्ष

पूँजी बहुल अमेरीका द्वारा सापेक्षतः पूँजी प्रधान तकनीकों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का निर्यात किया जाता है। इस निष्कर्ष की एक अन्य व्याख्या भी संभव है। श्रम सघन पदार्थों का निर्यात भारत द्वारा, श्रम की सेवाओं को निर्यात के समतुल्य माना जा सकता है। इसी प्रकार अमेरीका द्वारा पूँजी सघन चीजों के निर्यात को पूँजी की सेवाओं के निर्यात के समकक्ष माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में वस्तुओं के अंतरराष्ट्रीय व्यापार की सेवाओं के अंतरराष्ट्रीय व्यापार के रूप में व्याख्या की जा सकती है। इससे फिर वस्तु एवं साधन बाजारों की घनिष्ठता की ही झांकी मिलती है। वस्तुओं के प्रवाह का एक निहित अर्थ होता है मानो कि संसाधनों का प्रवाह हो रहा है (वास्तव में तो संसाधन अपने मूल देश में ही बने रहते हैं)।

8.3 साधन गतिशीलता/प्रवाह

अब हम इस पुस्तक की सामग्री के अंतिम विषय पर आ पहुँचे हैं। यह विषय विभिन्न देशों या क्षेत्रों के बीच संसाधनों के प्रवाह या गतिशीलता से जुड़ा है। अब हम इसी से जुड़े मुद्दों का विश्लेषण करेंगे। हमारे देश में दैनिक मजदूरी पर काम करने वाले श्रमिक तो रोज ही गाँवों से शहरों की ओर आते दिखाई दे जाते हैं। यही नहीं भारत से गए हजारों श्रमिक मध्य पूर्व (पश्चिम एशिया) के कुवैत और यमन आदि देशों में कार्य कर रहे हैं।

श्रम की गतिशीलता के उदाहरण यहीं तक सीमित नहीं रहते। अकुशल श्रमिक मैक्सिको से अमेरीका काम की खोज में चले जाते हैं, तो भारत और चीन से भारी संख्या में कौशल संपन्न श्रमिक यूरोप और अमेरीका जा रहे हैं।

अब हमारे समक्ष उपस्थित प्रश्न यह है—उत्पादक संसाधन इस प्रकार से प्रवाह-मान क्यों होते हैं—जैसे कि हमें दिखाई दे रहा है? इस संसाधन प्राव्रजन में संसाधन निधि सिद्धांत के अनुरूप सापेक्ष साधन कीमत नहीं बल्कि उसके विपरीत साधन कीमतों के परम अंतरों का महत्त्व अधिक होता है। हमने अभी कहा था कि दैनिक मजदूरी श्रमिक भारत के ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों में काम के लिए आते रहते हैं। क्या कारण हो सकता है इस गतिशीलता का? इसका एक मात्र कारण है कि शहरी इलाकों में मजदूरी की दर गाँवों की तुलना में अधिक ऊँची होती है। पर यह साधन कीमत में परम अंतर का उदाहरण होगा (सापेक्ष अंतर का नहीं)। ऐसे ही अंतरों से प्रोत्साहित होकर कोई संसाधन निम्न प्रतिफल क्षेत्र को छोड़ उच्च प्रतिफल क्षेत्र की ओर पलायन (प्राव्रजन) करने लगता है। दैनिक मजदूरी श्रमिक को शहर में गाँव की अपेक्षा अधिक ऊँची औसत मजदूरी मिल जाती है। यही बात उसे गाँव से शहर की ओर उन्मुख करती है। किंतु साधन कीमतों का ये परम अंतर—(यहाँ शहरी और ग्रामीण मजदूरी दरों का अंतर) संसाधन/श्रम के प्राव्रजन का एक तात्कालिक कारण ही है इसे आधारभूत कारक नहीं माना जा सकता। हम इस अध्याय और पुस्तक का समापन श्रम के प्रतिफल में शहरी-ग्राम्य अंतरों की समीक्षा के साथ ही करेंगे।

हम इस प्रश्न पर श्रम की माँग और आपूर्ति की दृष्टि से विचार कर सकते हैं (हमने संसाधनों की माँग और आपूर्ति की शक्तियों की व्याख्या अध्याय 7 में की है)। वास्तव में ये श्रम की माँग और आपूर्ति के पक्षों के अंतर ही हैं जो शहरी-ग्रामीण मजदूरी में अंतरों की व्याख्या कर पाते हैं।

पहली बात तो यही है कि ग्रामीण क्षेत्रों में अभी भी संयुक्त परिवार होते हैं, जबकि शहरी क्षेत्रों में यह व्यवस्था समाप्त हो चुकी है। शहरों में तो अब नाभिकीय परिवार ही दिखाई पड़ते हैं। अनेक शहरी परिवारों में तो पति-पत्नि दोनों ही घर से बाहर कोई न कोई व्यवसाय करते मिल जाते हैं। परिणामस्वरूप

घरेलू सेवाओं (सफाई, धुलाई, भोजन बनाने आदि) की माँग बहुत बढ़ जाती है। यही नहीं, गाँवों की अपेक्षा शहरों में भवन आदि के निर्माण कार्य भी अधिक हो रहे हैं। इन सभी के कारण शहरों में दैनिक मजदूरों की सेवाओं की माँग गाँवों की तुलना में बहुत अधिक बनी रहती है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि शहरों की जीवन निर्वाह की लागत गाँवों से अधिक होती है। अत: अधिकांश दैनिक मजदूरों को अपने परिवारजनों को गाँव में ही बसाए रखना श्रेयस्कर लगता है। इसका परिणाम होता है अन्य बातें पूर्ववत रहने पर (गाँवों की अपेक्षा) शहरी क्षेत्र में श्रम की आपूर्ति कम बनी रहती है।

इन दोनों कारकों के कारण शहरी मजदूरी की दर गाँवों की तुलना में उच्चतर हो जाती है। इसी को एक रेखाचित्र द्वारा भी समझाया जा सकता है। चित्र 8.3 पर ध्यान दें। इसमें दो माँग वक्र बनाए गए हैं।
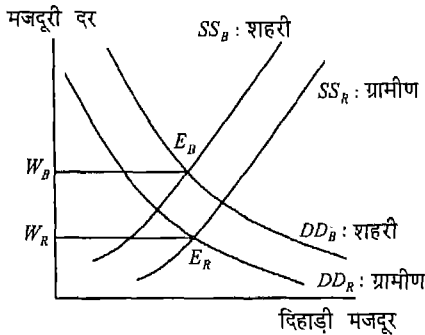
चित्र 8.3 : शहरी और ग्रामीण दैनिक मजदूरी श्रमिकों की मजदूरी दर

दाहिनी ओर स्थित माँग वक्र DD_B शहरी क्षेत्र की दैनिक मजदूरी श्रम माँग को दर्शा रहा है। इसी तरह से बाईं आपूर्ति वक्र SS_B शहरी और दाईं आपूर्ति वक्र SS_R ग्रामीण दैनिक मजदूरी श्रम की आपूर्ति को दर्शा रही है। जबकि बाईं ओर स्थित वक्र DD_R ग्रामीण क्षेत्र की माँग वक्र है। शहरी श्रम संतुलन E_B बिंदु पर होता है। जहाँ DD_B और SS_B परस्पर काट रहे हैं। इसी भांति ग्रामीण क्षेत्र का दैनिक मजदूरी श्रम बाजार उसकी DD_R और SS_R के प्रतिच्छेदन बिंदु E_R पर संतुलित होता है। हमें स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि शहरी क्षेत्र की दैनिक मजदूरी W_B ग्रामीण दैनिक मजदूरी W_R से अधिक है।

इससे एक बात अवश्य सिद्ध हो जाती है कि मजदूरी दरों में परम रूप से अंतर विद्यमान हैं तो फिर श्रम द्वारा न्यून-मजदूरी क्षेत्र से पलायन कर उच्च-मजदूरी क्षेत्र की ओर अग्रसर होना सहज ही समझ में आ सकता है।

अंत में, यह निष्कर्ष केवल अकुशल श्रमिकों पर लागू नहीं रहता। यह कुशल श्रमिकों पर भी समान रूप से मान्य होता है। वस्तुत: कुशल श्रमिकों के संदर्भ में एक अंतर और आ जाता है। उनकी जानकारी की भौगोलिक सीमाएँ आसपास के शहर तक सीमित नहीं रहती। इसी कारण जहाँ अकुशल श्रमिक आसपास के शहर या किसी अन्य प्रांत तक हाथ पैर फैलाते हैं, अधिक शिक्षित और कौशल संपन्न श्रमिक दूर-दूर के देशों तक में अधिक आय कमाने के अवसर तलाश कर प्राव्रजन कर जाते हैं।

इसी प्रकार पूँजी भी जहाँ पूँजी बहुल देशों में निम्न दर पर भाड़ा कमा पा रही है, अधिक कमाने के लोभ में पूँजी की कमी वाले विकासशील देशों में (उच्च भाड़ा-निम्न मजदूरी से लाभान्वित होने के विचार से) बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माध्यम से प्रवाहित होने लगती है।

हाँ एक बात हमें नहीं भुलानी चाहिए कि साधन कीमतों के परम अंतर साधन गतिशीलता का तात्कालिक कारण ही होते हैं। इस साधन आव्रजन-प्राव्रजन का आधारभूत कारण तो विभिन्न देशों/क्षेत्रों में साधन माँग और आपूर्ति की दशाओं में अंतर ही रहता है।

सार संक्षेप

- तुलनात्मक लाभ के सिद्धांत का अर्थ है कि देश अपने अंतरों का लाभ उठा कर व्यापार से लाभान्वित हो सकते हैं।
- रिकार्डो के सिद्धांत में तुलनात्मक लाभों का आधार प्रौद्योगिकीय अंतर होते हैं।
- साधन के गुणांक का विलोम ही उसके औसत भौतिक उत्पादन के समान होता है।
- रिकार्डो की अर्थव्यवस्था में स्थिर श्रम गुणांकों के कारण PPC पर रहते हुए एक वस्तु की दूसरी की तुलना में अवसर लागत स्थिर रहती है। इसके परिणामस्वरूप PPC एक सरल रेखा बन जाती है।
- व्यापार के अभाव में देश का उत्पादन संभावना वक्र ही उसकी उपभोग संभावना सीमा वक्र बन जाता है।
- विश्व विनिमय दर घरेलू विनिमय दरों के बीच ही किसी स्तर पर तय होती है।
- रिकार्डो के विश्व व्यापार प्रतिमान में जब तक विश्व विनिमय दर घरेलू विनिमय दर से भिन्न होने की दशा में किसी देश को तुलनात्मक लाभ सुलभ रहता है वह उसी में विशिष्टीकरण प्राप्त कर लेता है।
- रिकार्डो की अर्थव्यवस्था में जब हम विश्व विनियम पर घरेलू विनिमय दर से भिन्न रहती हैं, स्वतंत्र व्यापार यह सुनिश्चित रखता है कि देश का उपभोग संभावना वक्र उसके PPC से बाहर बना रहे।
- रिकार्डो का सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि कोई भी देश उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण कर निर्यात करते हुए अंतरराष्ट्रीय व्यापार से लाभांवित हो सकता है जिसके उत्पादन में उसे तुलनात्मक लाभ सुलभ हो। यह कथन उस समय भी लागू रहता है जब किसी देश को सभी वस्तुओं के उत्पादन में अधिक दक्षता प्राप्त हो (अर्थात उसमें सभी चीज़ों की उत्पादन लागतों का स्तर दूसरे देशों से कम हो)।
- संसाधन निधियों में सापेक्ष अन्तर भी तुलनात्मक लाभों के आधार की रचना कर सकते हैं। इसी विचार को संसाधन निधि सिद्धांत ने स्पष्ट किया है।
- संसाधन निधियों में सापेक्ष अंतर सापेक्ष कीमतों में अंतर पैदा कर देते हैं।
- एक सापेक्ष रूप से श्रम (पूँजी) बहुल देश को सापेक्षता श्रम (पूँजी) सघन वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ सुलभ होगा।
- संसाधन निधि सिद्धांत यह बताता है कि कोई देश उसी वस्तु का निर्यात करेगा जिसके उत्पादन में उसे बहुलता से प्राप्त संसाधन का अधिक सघनता से प्रयोग होता हो।
- इसी पूर्वानुमान का एक आशय यह भी है कि देश अपने बहुल संसाधन की सेवाओं का निर्यात करता है तथा सापेक्षत: दुर्लभ संसाधन की सेवाओं का आयात करता है।
- साधन कीमतों के परम स्तर के अंतर साधन गतिशीलता का तात्कालिक कारण हो सकता है पर आधारभूत कारक नहीं। वास्तव में ये साधन कीमत अंतर भी माँग और आपूर्ति की शक्तियों में क्षेत्रीय भिन्नताओं के कारण ही पैदा होते हैं।
- ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में शहरी क्षेत्रों में दैनिक मजदूरी की दर अधिक होती है। इसका कारण शहरों में दैनिक श्रम की माँग का अधिक होना तथा इसकी आपूर्ति का कम होना है।
- शहरी क्षेत्रों में दैनिक श्रम की अधिक माँग का स्रोत घरेलू कार्य और निर्माण कार्यों में श्रम की अधिक आवश्यकता होती है। शहरी जीवन की उच्च निर्वाह लागत के कारण श्रमिकों के परिवार गाँवों में ही रहना बेहतर समझते हैं। इसके परिणामस्वरूप शहरों में श्रम की आपूर्ति का स्तर निम्न रहता है।

▶▶▶ अभ्यास ◀◀◀

भाग-1

8.1 अंतरराष्ट्रीय व्यापार का क्या अर्थ है?

8.2 सेवाओं के अंतरराष्ट्रीय व्यापार का एक उदाहरण दें।

8.3 श्रम गुणांक का क्या अर्थ होता है?

8.4 परम लाभ का क्या अर्थ है?

8.5 तुलनात्मक लाभ का अर्थ बताइए।

8.6 रिकार्डो के सिद्धांत में तुलनात्मक लाभ के निर्धारक के रूप में किस कारक पर बल दिया गया है?

8.7 रिकार्डो के सिद्धांत के अनुसार स्वतंत्र व्यापार की स्थिति में कोई देश किस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है?

8.8 रिकार्डो के सिद्धांत में स्वतंत्र व्यापार की अवस्था में किसी देश के PPC और उसके उपभोग संभावना वक्र के बीच क्या संबंध होगा?

8.9 संसाधन निधि सिद्धांत तुलनात्मक लाभ के निर्धारक के रूप में किस कारक को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है।

8.10 सापेक्ष संसाधन निधि अंतर का क्या अर्थ है?

8.11 सापेक्ष साधन कीमत अंतर का क्या अर्थ है?

8.12 परम साधन कीमत अंतर का क्या अर्थ है?

भाग-2

8.13 सेवाओं के अंतरराष्ट्रीय व्यापार के दो उदाहरण दीजिए।

8.14 किसी उपयुक्त उदाहरण का प्रयोग कर तुलनात्मक लाभ की अवधारणा समझाइए।

8.15 समझाइए कि दो देशीय रिकार्डो की विश्व अर्थव्यवस्था में दोनों देशों को एक ही वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ क्यों नहीं हो सकते।

8.16 रिकार्डो के (विश्व अर्थव्यवस्था) प्रतिमान में स्थिर श्रम गुणांक किस प्रकार PPC को सरल रेखीय बना देते हैं? व्याख्या करें।

8.17 किसी अर्थव्यवस्था में एक मात्र उत्पादक साधन श्रम है। यह दो वस्तुओं का उत्पादन करती है–सितार और गिटार। एक सितार बनाने में श्रम की पाँच इकाइयाँ लगती हैं और एक गिटार के लिए 12 इकाइयों की आवश्यकता होती है। इस देश में सितार और गिटार की घरेलू विनिमय दर का आकलन करें।

8.18 निम्न तालिका में दो देशों में दो उद्योगों के श्रम गुणांक दिए गए हैं। यह निर्धारित करें कि किस देश को किस वस्तु के उत्पादन में परम लाभ और किसके उत्पादन में तुलनात्मक लाभ सुलभ होंगे।

	पॉपलैंड	रॉकलैंड
सितार	50	60
गिटार	60	50

8.19 पिछले प्रश्न पर एक बार पुन: विचार करें। मान लो कि पॉपलैंड में तकनीकी प्रगति होती है। सितार तथा गिटार उद्योगों में श्रम गुणांक घट कर 40 तथा 30 रह जाते है। अब दुबारा गणना करें कि किस देश को किस वस्तु के उत्पादन में परम और किसके उत्पादन में तुलनात्मक लाभ सुलभ है।

8.20 एक रिकार्डो अर्थव्यवस्था दो वस्तुओं का उत्पादन कर सकती है। ये हैं–दाँतों के ब्रुश और जूतों के ब्रुश। इन दोनों उद्योगों के श्रमगुणांक क्रमश: 30 और 90 हैं। इसकी रम निधि 1800 इकाई है। यदि इस अर्थव्यवस्था के समक्ष विश्व विनियम दर एक दाँतों का ब्रश = 4 जूतों के ब्रुश हैं। तो फिर ये देश स्वतंत्र व्यापार की दशा में कितने दाँतों के ब्रुश बनाएगा और कितने जूतों के ब्रुश?

8.21 एक पूँजी सघन और एक श्रम सघन पदार्थ के बीच उदाहरण सहित भेद करें।

8.22 साधन कीमतों के परम अंतरों की व्याख्या करें। इसका उदय क्यों हो जाता है?

8.23 साधन कीमतों के सापेक्ष अंतरों की व्याख्या करें। ये क्यों उत्पन्न होते हैं?

8.24 किन्ही दो वस्तुओं के नाम बताएँ जो उत्पादन में सापेक्ष रूप श्रम सघन हों।

8.25 ऐसी दो वस्तुओं के नाम बताएँ जो उत्पादन में सापेक्ष रूप से पूँजी सघन हों।

8.26 दो सापेक्षत: श्रम बहुल देशों के नाम बताएँ।

8.27 दो सापेक्षत: पूँजी बहुल देशों के नाम बताएँ।

8.28 मान लो कि विश्व में दो ही देश हैं–नील देश और पीत देश। इनमें दो ही उत्पादक साधन हैं–श्रम और भूमि। ये दो वस्तुओं का उत्पादन करते हैं–सेब और अंगूर। सेबों का उत्पादन सापेक्षत: भूमि सघन है (अंगूरों की तुलना में)। इन देशों की श्रम एवं भूमि निधियाँ निम्न तालिका में दर्ज की गई हैं। यदि इन देशों में स्वतंत्र व्यापार हो तो आकलन करें कि कौन-सा देश किस वस्तु का निर्यात करेगा?

	नील	पीत
श्रम	50	60
भूमि	70	140

8.29 दो ऐसी अवस्थाएँ बताइए जहाँ संसाधन गतिशील हो जाते हैं।

8.30 भारत की दो श्रम-सघन वस्तुएँ बताइए।

8.31 मान लो कि अर्थव्यवस्था में घरेलू क्षेत्र में काम करने वाले श्रमिकों की आपूर्ति कम हो जाती है इन सेवाओं के प्रतिफल (मजदूरी) पर क्या प्रभाव होंगे?

भाग-3

8.32 समझाइए कि एक श्रम बहुल देश श्रम सघन वस्तुओं का ही निर्यात क्यों करेगा।

8.33 विश्लेषण करें कि शहरी क्षेत्र में दैनिक मजदूरी की दर ग्रामीण क्षेत्र से अधिक क्यों रहती है।

8.34 मान लो कि हमारे बहुत से कंप्यूटर विशेषज्ञ विदशों को प्राव्रजन कर जाते हैं (विदेशों में जाकर बस जाते हैं)। अन्य बातें पूर्ववत रहें तो इसके भारत तथा शेष विश्व के देशों में कंप्यूटर विशेषज्ञों के वेतन पर क्या प्रभाव होंगे?

परिशिष्ट 1

रेखाचित्र (ग्राफ), वक्र और ढाल (ढलान)

(परीक्षा अनुपयोगी)

अर्थशास्त्र में हम अधिकतर दो समंकों या चरों के बीच संबंध का अध्ययन करते हैं–जैसे कि परिवार की आय और वस्त्रों पर उसका व्यय आदि। ऐसे ही संबंध का एक उदाहरण हम तालिका क.1 में दे रहे हैं। इसके अनुसार परिवार की आय 200 रुपए होने पर वह कपड़ों पर 40 रुपए खर्च करता है। आय के साथ वस्त्रों पर व्यय में वृद्धि होती रहती है। 210 रुपए हो जाने पर यह खर्च भी 43 रुपए हो जाता है। इसी प्रकार आय में वृद्धि होती है। इस प्रकार की तालिका किसी एक परिवार के विभिन्न समय बिंदुओं पर वस्त्रों पर व्यय संबंधी व्यवहार को दिखा सकती है। यही तालिका अनेक परिवारों, जिनकी आय अलग-अलग स्तर पर हो, एक ही समय बिंदु पर वस्त्र-व्यय व्यवहार को भी अच्छी तरह दर्शा सकती है। हमारे लिए तो (इस समय) सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि एक चर के मान में वृद्धि होने पर दूसरे चर का मान भी अधिक हो जाता है। ऐसी दशा में हम कहते हैं कि इन चरों में परस्पर **धनात्मक संबंध** है।

तालिका क.1
परिवार की आय और
वस्त्रों पर व्यय (रुपए)

मासिक आय (रुपए)	वस्त्रों पर मासिक व्यय (रुपए)
200	40
210	43
220	47
225	50
233	55

ऐसे द्विचरीय संबंधों को हम प्रायः एक रेखाचित्र के रूप में अंकित करते हैं। एक खाली ग्राफ पेपर लेकर उस पर X-अक्ष (क्षैतिज अक्ष) पर **आय** तथा Y-अक्ष (ऊर्ध्व-अक्ष) पर **वस्त्रों पर व्यय** लिख लीजिए उसके बाद तालिका में दिए गए दोनों चरों के मानों के जोड़ों को एक बिंदु के रूप में अंकित कर लीजिए। ये चित्र क.1 जैसा दिखाई देगा।
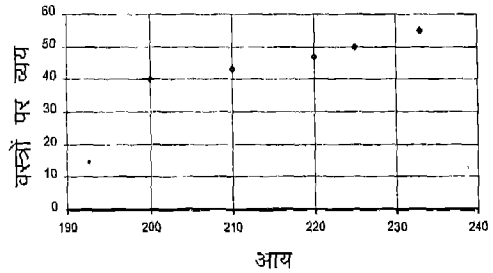
चित्र क.1 : तालिका के बिंदुओं का चित्रांकन

वक्र और एक ऊपर को उठता हुआ वक्र सामान्यतः रेखाचित्र में अंकित बिंदुओं को मिलाने पर हमें **वक्र** प्राप्त हो जाता है। चित्र क.1 के बिंदुओं को जोड़ा जाए तो चित्र क.2 में दिखाए गए वक्र की प्राप्ति होती है। ध्यान दें, जैसे-जैसे आप अक्ष केंद्र से दाहिनी ओर बढ़ते हैं; यह वक्र ऊपर उठता जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यही है कि जैसे–जैसे X चर के मान में वृद्धि होती है Y का मान भी बढ़ता जाता है। ऐसे रेखाचित्र को **ऊपर की ओर उठता हुआ या धनात्मक ढाल वाला रेखाचित्र कहते हैं।**
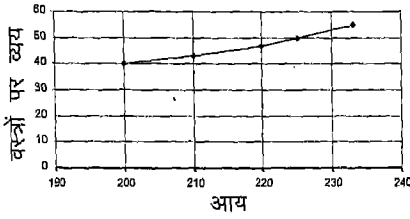
चित्र क.2 : तालिका क.1 पर आधारित रेखाचित्र

सामान्य परिभाषा के रूप में हम कहते हैं–यदि एक चर के मान में वृद्धि के साथ-साथ दूसरे चर के मान में भी वृद्धि हो तो उन चरों के परस्पर संबंध को दर्शाने वाला वक्र ऊपर की ओर उठता या धनात्मक ढाल वाला वक्र कहलाता है।

नीचे की ओर ढलवाँ/दाहिनी ओर ढलवाँ वक्र

आइए अब एक दूसरी किस्म के उदाहरण पर विचार करें। एक शहर के प्रशासन का यातायात पुलिस पर व्यय (X) तथा यातायात नियमों के उल्लंघन के मामलों (Y) के बीच किस प्रकार का संबंध होगा? अन्य सभी कारक पूर्ववत रहें तो हमारी अपेक्षा यही होगी कि यातायात पुलिस व्यवसाय को सुदृढ करने पर व्यय में वृद्धि (X में वृद्धि) होने के साथ-साथ यातायात के नियमों के उल्लंघन (Y) में कमी आनी चाहिए। मान लीजिए कि किसी नगर के यातायात पुलिस व्यय और यातायात नियम उल्लंघन के आँकड़े तालिका क.2 में दर्ज किए गए हैं।

तालिका क.2

यातायात पुलिस पर व्यय और यातायात नियमों के उल्लंघन

राजकीय वार्षिक व्यय (लाख रुपयों में)	यातायात नियमों के उल्लंघन (हजारों में)
10	12
15	10
17	7
20	6
24	3

यदि हम इन बिंदुओं को अंकित कर उन्हें जोड़ दें तो हमें चित्र क.3 मिल जाता है। ऐसे वक्र को दाहिनी और ढलवाँ या नीचे की ओर ढलवाँ वक्र कहा जाता है। इसी को ऋणात्मक ढाल वक्र भी कहते हैं। ऐसे वक्र की रचना दो चरों के उस संबंध से होती है जिसमें एक चर के मान में वृद्धि के साथ दूसरे में गिरावट आती हो।
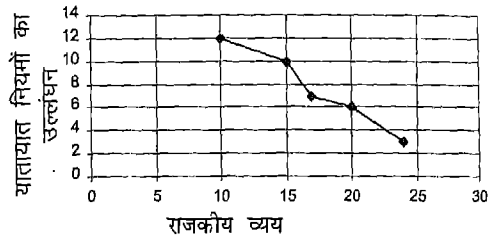
चित्र क.3 : तालिका क.2 की जानकारी पर आधारित वक्र

ऊपर की ओर उठता और नीचे की ओर ढलवाँ वक्र : कई बार एक चर में वृद्धि के साथ दूसरे में भी वृद्धि तो कभी-कभी हो सकती है। आइए आपके जेब खर्च और मूँगफली के पैकेटों की खरीदारी के बीच संबंध को समझने का प्रयास करें। एक संभावित स्वरूप इस प्रकार हो सकता है–शुरू में आपके जेब खर्च की राशि कम है। इस अवस्था में इस राशि में वृद्धि होने पर आप अधिक मूँगफली खरीदने लगेंगे। पर आपकी जेब खर्च राशि में लगातार वृद्धि होने पर किसी न किसी स्तर पर पहुँच कर आप मूँगफली के पैकेटों की खरीदारी कम कर देंगे (साथ ही आप किसी अन्य अपेक्षाकृत महँगी चीज़ जैसे–आइसक्रीम की खरीदारी करने लगेंगे)। ऐसा ही उदाहरण तालिका क.3 में दिखाया गया है। जेब खर्च की राशि में वृद्धि होने पर शुरू में मूँगफली के अधिक पैकेट खरीदे जा रहे हैं पर एक बिंदु पर जेब खर्च 40 रुपए की सीमा पार कर रहा है, उसके बाद मूँगफली की खरीदारी कम होने लगती है।

तालिका क.3

जेब खर्च की राशि और मूँगफली के पैकेट

जेब खर्च (प्रतिमास रुपए)	मूँगफली के पैकेटों की मासिक खरीदारी
20	5
30	7
40	10
50	8
60	6
70	2

चित्र क.4 में तालिका क.3 का रेखाचित्र बनाकर एक वक्र की रचना की गई है। यह वक्र प्रारंभ में ऊपर की ओर उठता है पर एक बिंदु के बाद नीचे की ओर ढलवाँ हो जाता है।
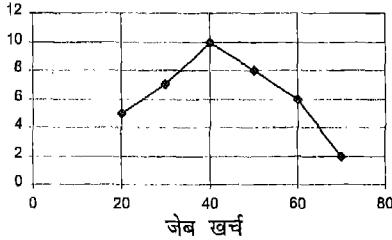
चित्र क.4 : तालिका क.3 पर आधारित वक्र

सतत् अथवा अविछिन्न वक्र

चित्र क.2, क.3 और क.4, में बनाए गए वक्रों में कुछ ज्यादा ही टूटी-फूटी-सी लकीरें दिखाई दे रही है। इसका कारण यही है कि हमने दोनों चरों को पूर्णांकों में अभिव्यक्त किया है–अगर उन्हें बहुत छोटी-छोटी इकाइयों, जैसे दशमलवों में मापा जाए तो वे किसी रेखा के बिंदुओं की भांति सतत् स्वरूप धारण कर लेते। फिर तो उनका रेखाचित्र भी सतत् या अविछिन्न दिखाई देता, उसमें रेखा-खंड नहीं दिखते। चित्र क.5 में हमने ऐसे ही कुछ सतत् वक्र बनाए हैं। भाग (क) में एक सतत् ऊपर की ओर उठता वक्र बनाया गया है। भाग (क) और (ग) में क्रमशः U-आकार तथा ∩-आकार के वक्र बनाए गए हैं
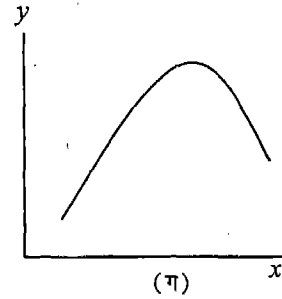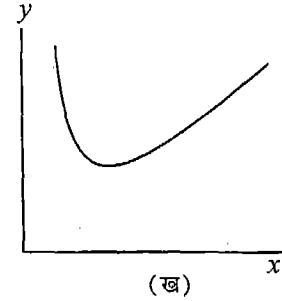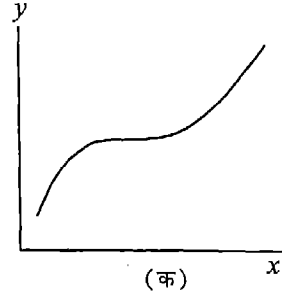
चित्र क.5 : सतत वक्र

ढाल

हम ढाल शब्द का अब तक बहुत बार प्रयोग कर चुके हैं। गणितीय दृष्टि से यह किसी रेखा या वक्र के किसी बिंदु पर उसके तीखेपन का मापन करता है।

यहाँ हम केवल सरल रेखा के ढाल के विषय में चर्चा कर रहे हैं। इसे रेखा द्वारा X-अक्ष के साथ बनाए गए कोण (tangent) स्पर्शमान के द्वारा मापा जा सकता है—इसका यह मान रेखा के किसी बिंदु पर ऊर्ध्व अंतर तथा आधार अथवा क्षैतिज अंतर का अनुपात होगा। उदाहरण के लिए चित्र क.6 पर विचार करें। ऊपर की ओर उठती हुई रेखा KL ने X-अक्ष के साथ कोण ∠L बनाया है। अत: tan (∠L) इस सरल रेखा $\tan(\angle L) = \frac{OM}{OL} = \frac{ST}{LT}$ के ढाल का मान होगा। त्रिकोणमिति का सूत्र हमें बताता है कि $\tan(\angle L) = \frac{OM}{OL} = \frac{ST}{LT}$ जहाँ ST X-अक्ष और KL रेखा के बीच कोई ऊर्ध्व सरल रेखा है। अत: $\frac{OM}{OL} = \frac{ST}{LT}$ ही सरल रेखा KL का ढाल है।

इसी प्रकार इस चित्र क.6 में नीचे की ओर ढलवाँ रेखा EF पर विचार करें। यहाँ ढाल का मान होगा tan (LF) = –OE/OF। यहाँ (–) का चिह्न यही दिखाता है कि रेखा का ढाल ऋणात्मक है।
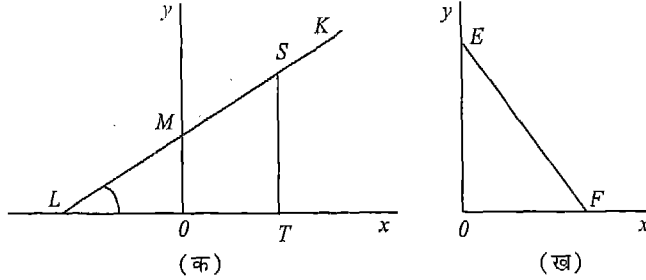
चित्र क.6 : सरल रेखा का ढाल

परिशिष्ट 2

बिंदु लोच

(परीक्षा अनुपयोगी)

हमारा यह परिशिष्ट अध्याय 2 के बिंदु लोच के सूत्र की व्याख्या कर रहा है। आइए हम पहले तो लोच के सूत्र (E) को कुछ परिवर्तित स्वरूप में लिख लेते हैं–

$$(E')\ e_D = -\frac{\Delta Q/\Delta P}{Q_0/P_0}$$

यहाँ P_0 तथा Q_0 प्रारंभिक दशा में कीमत स्तर और माँग की मात्रा के मान हैं। एक और बात पर विचार करें–इस सूत्र में अंश तो मात्रा और कीमत के परिवर्तनों का अनुपात है–(अर्थात ये कीमत परिवर्तन के अनुरूप माँग की मात्रा में परिवर्तन की दर को दर्शाता है)।
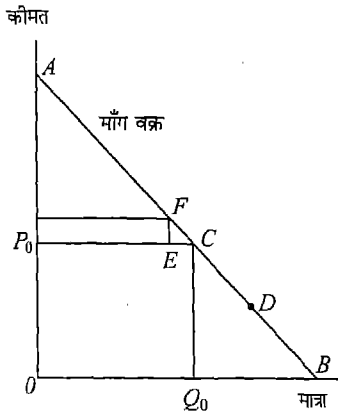
चित्र क.7

अब चित्र क.7 में दिखाया गया सरल रेखीय माँग वक्र AB पर ध्यान दें। मान लो कि कीमत में P_0 स्तर से चलकर एक बहुत छोटा-सा परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन $\Delta P = EF$ है। इससे जुड़ा मात्रा का परिवर्तन $\Delta Q = EC$ है। अब त्रिभुज CEF पर विचार करें। यह त्रिभुज ACP_0 के समरूप है।

अतः $\frac{-\Delta P}{\Delta Q} = \frac{EF}{FC} = \frac{AP_0}{P_0C}$ या $\frac{-\Delta Q}{\Delta P} = \frac{P_0C}{AP_0}$। इसे सूत्र (E') में रखने पर हमें मिलता है-

$$e_D = \frac{P_0/AP_0}{OQ_0/OP_0} = \frac{P_0C}{AP_0} \div \frac{OQ_0}{OP_0} = \frac{P_0C}{AP_0} \times \frac{OP_0}{OQ_0}$$

किंतु $OQ_0 = P_0C$ और $OP_0 = CQ_0$। अतः हम कह सकते हैं कि $e_D = \frac{CQ_0}{AP_0}$ दूसरे शब्दों में यदि माँग वक्र AB की भांति सरल रेखीय हो तो उसके किसी बिंदु पर माँग की लोच का मान $\frac{BC}{CA}$ के समान होगा। इसी तरह से D बिंदु पर ये मान $\frac{BD}{DA}$ हो जाएगा (अर्थात माँग वक्र के निचले रेखांश और ऊपर वाले रेखांश का अनुपात)।

परिशिष्ट 3

प्रोफेसर अमर्त्य सेन का अकाल विषयक सिद्धांत

(परीक्षा अनुपयोगी)

अपने अध्याय के मुख्य पाठ में हमने **खाद्य उपलब्धता अपकर्ष सिद्धांत** की व्याख्या की थी। उसके अनुसार खाद्य-पदार्थों की आपूर्ति में भारी कमी के कारण अकाल पैदा होता है। किंतु प्रोफेसर अमर्त्य सेन का आग्रहपूर्वक तर्क यह है कि वास्तव में अकाल मूल रूप से **वितरण की समस्या** हो सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी क्षेत्र में परिवहन की समस्याओं के कारण आवश्यकता होने पर भी अनाज पहुँचाना संभव नहीं हो पाता (वैसे अनेक प्रकार की परिस्थितियों में ये भी हो सकता है)। इसे वितरण की समस्या इस रूप में कहा गया है कि किन्हीं कारणों से किसी क्षेत्र विशेष की जनसंख्या का

बहुत बड़ा वर्ग पहले की अपेक्षा बहुत गरीब हो जाता है। इस कारण से उसके पास पर्याप्त (न्यूनतम आवश्यक) मात्रा में खाद्य-पदार्थ खरीद पाने के लिए आवश्यक क्रय शक्ति का अभाव हो जाता है। यह अभाव उस समय भी पैदा हो सकता है जब सकल खाद्य आपूर्ति में कोई कमी नहीं आई हो। इसके आगे उन्होंने बहुत ही विश्वासोत्पादक तर्कों द्वारा यह समझाया है कि 1943 का बंगाल का अकाल एक ऐसी ही विषम घटना थी।

यह कैसे हो जाता है कि खाद्य-पदार्थों की उपलब्धता या आपूर्ति में पिछले वर्षों की तुलना में भारी कमी आए बिना और जनसंख्या में अचानक असामान्य वृद्धि हुए बिना भी ऐसी परिस्थितियाँ बन जाती हैं कि इतनी बड़ी संख्या में लोग जीवित रह पाने के लिए आवश्यक मात्रा में अपनी मुख्य खाद्य सामग्री खरीद पाने में असमर्थ हो जाते हैं। प्रो. सेन ने अपने तर्कों का क्रम प्रारंभ करते हुए आँकड़ों के आधार पर पहले तो यह दिखाया है कि 1943 के बंगाल के अकाल के दौरान चावल की कुल आपूर्ति में भारी कमी नहीं आई थी। यह काम इतना सरल नहीं था–जितना लग रहा है। इसके लिए उन्हें भारत में जगह-जगह पर पुस्तकालयों में बिखरे हुए अभिलेखों से जानकारी संग्रहित कर एक प्रमुख रूप से जनमानस में बसी हुई धारणा के विपरीत साक्ष्य जुटाने का बहुत ही कष्ट-साध्य कार्य करना था। अंततः वे यह सिद्ध कर पाने में सफल रहे कि पिछले पाँच वर्षों की औसत की तुलना में 1943 में बंगाल में चावल की आपूर्ति केवल 5 प्रतिशत ही कम थी। वास्तव में उन्होंने आँकड़ों के आधार पर यह प्रमाण भी प्रस्तुत किया कि 1943 की चावल की आपूर्ति सही अर्थों में तो 1941 की तुलना में 13 प्रतिशत अधिक थी। फिर तो यह प्रश्न भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि 1941 में अकाल क्यों नहीं पड़ा? और अधिक चावल उपलब्ध होते हुए भी 1943 में ऐसी स्थिति क्यों पैदा हो गई? (देखिए, सेन–गरीबी और अकाल, मूल प्रकाशन वर्ष, 1981, पृष्ठ 58)[1]।

अब तो हमारे सामने यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि आपूर्ति वक्र के भीतर (बाईं) ओर खिसके बिना ही अपेक्षाकृत निम्न आय-वर्ग के परिवारों की इतनी विशाल संख्या को किस प्रकार बाजार से बाहर धकेल दिया गया और वे भूखा मरने को विवश हो गए? इसकी व्याख्या से पूर्व हम चाहते हैं कि एक बार आप अध्याय 5 के चित्र 5.6 की जानकारी पर फिर से विचार करें। वहाँ हमने तीन प्रकार के परिवारों, A, B और C के मुख्य खाद्यान्न (चावल) के माँग वक्रों को दर्शाया था। इन परिवारों में A वर्ग सबसे गरीब है तथा सबसे धनी वर्ग C है। बाजार माँग वक्र चित्र के सबसे दाहिने भाग में दिखाया गया है। उसी चित्र को हम यहाँ चित्र क.8 के रूप में दुबारा बना रहे हैं। जब बाजार में कुल आपूर्ति M_O थी और सभी उपभोक्ताओं (A, B तथा C) की सांझी अथवा बाजार माँग DD_M थी (ये उन उपभोक्ताओं के माँग वक्रों DD_A, DD_B तथा DD_C का योगफल था) तो बाजार में निर्धारित संतुलन कीमत P_O थी। इस कीमत पर प्रत्येक परिवार अपने मुख्य खाद्यान्न की कुछ मात्रा में खरीदारी कर पाने में समर्थ रहता था और भूखमरी या अकाल की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाती थी। हम इसी दशा को अपने आगे के विश्लेषण का आरंभिक बिंदु मानते हैं।

अब बंगाल के भीषण अकाल के विषय में तीन और तथ्यों को ध्यान में रखना जरूरी होगा–

1. ये द्वितीय महायुद्ध का समय था।

[1] *इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद 1999 में प्रकाशित हो चुका है। उसके पृष्ठ 64 पर यह जानकारी उपलब्ध है।*

2. अकाल मुख्यत: (पर पूरी तरह नहीं) ग्रामीण क्षेत्रों तक ही सीमित था।
3. ग्रामीण क्षेत्रों में भी अकाल की सबसे भीषण मार समाज के जिन वर्गों पर पड़ी वे मछुआरे, मल्लाह, कृषि मजदूर, शिल्पकार तथा गैर-कृषि मजदूर थे। भूधारी किसानों और बटाईदारों पर अकाल का दुष्प्रभाव सबसे कम रहा था।

अब हम प्रो. सेन द्वारा बताए गए बंगाल के अकाल के कारणों को समझ कर उनकी समीक्षा कर पाने के लिए पूरी तरह से तैयार हैं।

युद्धकाल में सार्वजनिक (सरकारी) व्यय में वृद्धि के कारण पैदा हुआ सशक्त स्फीतिकारी दबाव सामान्यत: किसी भी बड़े युद्ध के समय सैन्य कार्यवाही और नागरिक निर्माण कार्यों आदि पर राजकीय व्यय में बड़ी भारी वृद्धि हो जाती है। इस व्यय के लिए रुपया जुटाने का कार्य नए कर लगा कर नहीं किया जाता। आमतौर पर सरकारें नए नोट छाप कर काम चलाना बेहतर समझती हैं। यह व्यय वृद्धि हो जाती है। इसका नतीजा होता है, मुद्रा स्फीति, जिसका प्रभाव खाद्य-पदार्थों की कीमतों में भारी वृद्धि के रूप में सामने आता है। यही नहीं, आय और संपत्ति की इस वृद्धि से अधिकांशत: शहरी क्षेत्रों में बसे परिवारों को ही लाभ होता है। द्वितीय महायुद्ध के समय भी यही हुआ। बंगाल में इसके परिणामस्वरूप निजी आय और संपत्ति की भारी वृद्धि कोलकाता जैसे शहरों तक ही सीमित रह गई। ग्रामीण बंगाल की इसमें कोई हिस्सेदारी नहीं हो पाई।

यदि यह मान लिया जाए कि शहरों में अमीर परिवारों का अधिक जमघट रहता है तो हमारी माँग वक्रों के संदर्भ में इसका अर्थ होगा कि इस वर्ग के परिवारों का चावल का माँग वक्र बाहर की ओर खिसक गया। चित्र में (इस वर्ग की नया माँग वक्र DD'_C है। इसके कारण बाजार का माँग वक्र भी DD_M से खिसक कर DD'_M हो जाता है। इससे (बाजार आपूर्ति का स्तर स्थिर होने के कारण)
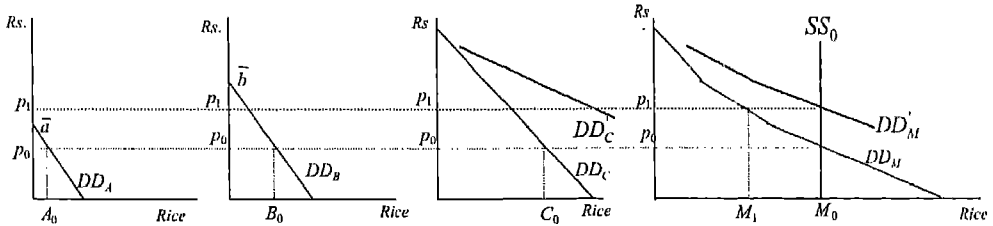
चित्र : माँग का दबाव और अकाल

अंतत: इन निर्माण कार्यों से जुड़े व्यावसायियों और इनमें नए-नए रोजगार पाने वालों की आय का रूप धारण कर लेता है। करों में तो कोई वृद्धि होती नहीं है, अत: ये आय सीधे ही निजी आय और संपत्ति में वृद्धि का रूप धारण कर लेती है। परिणामस्वरूप सभी प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च में चावल की बाजार कीमत P_0 से बढ़कर P_1 हो जाती है। इस नए कीमत स्तर पर समाज का सबसे गरीब वर्ग A बाजार से खरीदारी कर पाने में असमर्थ हो जाता है। इसका अभिप्राय यही होगा कि ऐसी परिस्थितियों के देर तक बने रहने पर निम्नतम आय-वर्ग का जन समुदाय भूखा रहने को मजबूर हो जाएगा। यहाँ सबसे

अधिक ध्यान देने योग्य बात यही है कि कुल उपलब्ध आपूर्ति में कोई कमी आए बिना भी यह मजबूरी भरी हालत पैदा हो जाती है। इसी कारण से प्रो. सेन ने 1943 के बंगाल के अकाल को **समृद्धिकालिक** अकाल का नाम दिया है, क्योंकि यह अकाल युद्धकाल में सार्वजनिक व्यय वृद्धि द्वारा सृजित समृद्धि के दौर में पैदा हुआ था।

आय और क्रय शक्ति का विषमता पूर्ण विस्तार—युद्ध काल में केवल सैन्य क्षेत्र में जुड़े प्रकल्पों पर व्यय में वृद्धि नहीं होती, वरन् इस समय सेना द्वारा व्यय में भी बढ़ोतरी हो जाती है। इस कारण से अन्यों की अपेक्षा कुछ विशेष व्यवसायों/पेशों में लगे लोगों को अधिक लाभ होता है। इन व्यवसायों में सम्मिलित हैं सैन्य और नागरिक सुरक्षा निर्माण तथा सेनाओं के लिए सामग्री जुटाने वाले औद्योगिक एवं व्यापारी प्रतिष्ठान। युद्धकाल में सैन्य बलों के वेतनमानों में सुधार एक आम बात है। यही नहीं, सेनाओं को तरह-तरह के साज-समान और कल पुर्जों की आपूर्ति करने वालों का व्यवसाय भी इस समय खूब फलता-फूलता है।

C-वर्ग के माँग वक्र को बाहर खिसकाने वाले ये अतिरिक्त कारक बन जाते हैं। इनके प्रभाव स्वरूप भी, बंगाल के ग्रामीण क्षेत्र में भूख के साम्राज्य को अपने पैर जमाने का अवसर मिला । ये अवसर पहले चर्चित क्रय-शक्ति के प्रसार से अतिरिक्त था।

ये सब तो बंगाल के अकाल से जुड़े माँग पक्षीय कारक थे। इनके अतिरिक्त कुछ आपूर्ति कारकों ने भी अकाल की विभीषिका में अपना **योगदान** दिया था।

सट्टेबाजी—चावल के दामों में सामान्य, किंतु व्यापक वृद्धि ने किसानों और व्यापारियों को सट्टेबाज बना दिया। वे सोचने लगे कि अभी तो कीमतें और बढ़ेंगी। अतः उनमें से अनेक चावल की जमाखोरी में जुट गए। इसके कारण बाजार में कृत्रिम रूप से आपूर्ति के अभाव की सृष्टि हो गई। इसने भी चावल की कीमतों में वृद्धि कर समाज के गरीब वर्गों को अन्नाभाव की दिशा में धकेल दिया। ध्यान देने योग्य बात तो यही है कि प्रांत में चावल के कुल उत्पादन और आपूर्ति में तो कमी नहीं आई थी, किंतु उस कुल आपूर्ति का एक बड़ा हिस्सा बाजार तक नहीं पहुँच रहा था। अब एक बार फिर चित्र 5.6 की ओर लौट चलिए। यहाँ M_0 को हम वास्तविक या संभावित चावल आपूर्ति का परिचायक मान सकते हैं, पर जमाखोरी के कारण प्रभावी रूप से बाजार आपूर्ति M_1 या M_2 ही रह जाती है। अतः स्पष्ट है कि जमाखोरी निश्चित रूप से बाजार में चावल की कीमत बढ़ा देती है।

अनाज के अंतरराज्यीय निर्यात पर रोक—क्या उन स्फीतिकारी और सट्टेबाजी की शक्तियों का प्रतिकार करने के लिए अन्य प्रांतों से बंगाल में खाद्यान्न नहीं भेजे जा सकते थे? दुर्भाग्यवश 1942 में एक राज्य से दूसरे राज्य को अनाज भेजने पर प्रतिबंध लगा हुआ था। इसका कारण यही था कि प्रत्येक राज्य की सरकार अपने प्रांत की खाद्यान्न की आपूर्ति स्थिति को ठीक बनाए रखने के प्रति अधिक चिंतित थी। वर्ष 1943 के मध्य तक अनाज का अंतरराज्यीय आवागमन खुल गया था, किंतु तब तक बहुत देर हो चुकी थी।

ये प्रो. सेन द्वारा प्रस्तुत प्रमुख तर्क हैं।[2] भले ही इनमें से कोई भी कारक अकेले अपने दम पर कीमत को इतना नहीं बढ़ा पाता कि (उस क्षेत्र का) विशाल जन समुदाय गंभीर वंचना का शिकार हो अनाज

[2] *प्रो. सेन ने बंगाल में खाद्य पूर्ति से जुड़ी प्रशासनिक कुव्यवस्था को भी एक कारण माना है। इसके परिणामस्वरूप भी सट्टेबाजी और घबराहट में अधिक खरीदारी को बढ़ावा मिला था।*

खरीद पाने में असमर्थ हो जाता, किंतु उनका सम्मिलित प्रभाव निश्चित रूप से बहुत विनाशक रहा।

इस **आय आबंटन आश्रित** अकाल सिद्धांत का एक **पूर्वानुमान** या निष्कर्ष यह भी होगा कि उत्पादन में कमी नहीं हुई पर कीमतों में वृद्धि हो रही है। अतः खाद्यान्नों के विक्रय से आय कमाने वाले कृषकों और बटाईदारों पर क्रय शक्ति के ह्रास का विशेष दुष्प्रभाव नहीं होगा और वे अकाल जैसे संकट से बच निकलेंगे। यद्यपि इन्हें भी खाद्यान्नों की कीमत में वृद्धि का सामना करना होगा, किंतु, इसी वृद्धि के कारण उनकी समग्र आय में कहीं अधिक वृद्धि होगी और उसके प्रभाव से इनका खाद्यान्न माँग वक्र किसी सीमा तक दाहिनी ओर ही खिसक जाएगा। ऐसा ही वास्तव में हुआ भी, ग्रामीण बंगाल के इस प्रकार के वर्गों पर अकाल का न्यूनतम प्रभाव रहा। इस अनुभव से भी प्रो. सेन के सिद्धांत की और पुष्टि होती है।

कुल मिलाकर प्रो. सेन का तर्क रहा है कि बंगाल में कुल खाद्य उपलब्धता में भारी गिरावट के कारण अकाल नहीं पड़ा, वहाँ तो क्रय शक्ति के विषमतापूर्ण बंटवारे ने अकाल की सृष्टि कर दी थी। ये मुख्यतः द्वितीय महायुद्ध के कारण पनपी समृद्धि ही थी जिसने समाज के गरीब वर्ग को आवश्यक खाद्य सामग्री के बाजार से प्रभावी रूप से निष्कासित कर दिया था। अन्य कारकों ने तो इसी मूलभूत समस्या को और गहरा बनाया था।

एक और बात ध्यान में रखें–हमारी उपर्युक्त चर्चा प्रो. सेन के अकाल सिद्धांत के मुख्य आधारभूत विचारों का उदाहरण मात्र है। उन्होंने इस सिद्धांत को केवल बंगाल के अकाल पर मान्य नहीं माना, बल्कि इथियोपिया में 1973 तथा बंग्लादेश में 1974 के अकाल की व्याख्या भी इसी सिद्धांत के आधार पर की है।

संदर्भ ग्रन्थ–सेन, अमर्त्य, **गरीबी और अकाल**, मूल प्रकाशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1981।
हिन्दी संस्करण–राजपाल, 1999।

शब्दावली

असामान्य हानि	:	असामान्य लाभ के ऋणात्मक हो जाने पर उसे असामान्य हानि कहा जाता है।
असामान्य लाभ	:	किसी उत्पादक के अवसर लागत से अधिक लाभ को असामान्य लाभ कहते हैं।
साधन कीमतों में परम अंतर	:	एक क्षेत्र में प्रचलित साधन कीमत (प्रतिफल)का किसी अन्य क्षेत्र में प्रचलित साधन कीमत (प्रतिफल)से परम रूप से भिन्न होना।
विज्ञापन लागतें	:	किसी वस्तु के ब्रांड विशेष के प्रचार पर लगी लागतें।
एकाधिकार विरोधी विधेयक	:	वे विधेयक आदि जो उत्पादन दक्षता की तुलना में फर्मों के बाजार पर नियंत्रण करने की शक्तियों से जुड़े हों।
औसत लागत	:	यह उत्पादन पर आई सकल लागत और उत्पादित इकाइयों की सख्या का अनुपात है।
औसत स्थिर लागत	:	यह कुल स्थिर लागत और कुल उत्पादन का अनुपात है।
औसत भौतिक उत्पादन	:	यह प्रति इकाई परिवर्ती संसाधन का कुल भौतिक उत्पादन है।
औसत उत्पादन	:	यह औसत भौतिक उत्पादन ही है।
औसत आगम	:	यह उत्पादन की प्रति इकाई बिक्री से प्राप्त आगम है।
औसत कुल लागत	:	यह औसत लागत ही होती है।
समकारी कीमत	:	वह कीमत जिस पर फर्म का असामान्य लाभ (और हानि भी) शून्य हो जाता है। यह औसत लागत के समान होती है।

: व्यापारियों का ऐसा गुट जो मिलकर उत्पादन स्तर और कीमत निर्धारित कर बाजार में एकाधिकारी शक्तियों का प्रयोग करता है।

: यह माँग वक्र की स्थिति परिवर्तन या खिसकाव से संबद्ध है।

वर्तन : वस्तु की अपनी कीमत में परिवर्तन के प्रभाव स्वरूप माँग वक्र के एक बिंदु से दूसरे पर जाना।

: आपूर्ति वक्र का स्थिति परिवर्तन/खिसकाव।

संतुलन : वह स्थिति जिसमें सभी फर्में अधिकतम लाभ कमा रहीं हों और बाजार में अन्य फर्मों का आवागमन नहीं हो रहा हो।

फल : संसाधनों के प्रयोग में एक निश्चित अनुपात में वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन में भी उसी अनुपात में वृद्धि होना।

ा : किसी वस्तु की खरीदारी के संबंध में उपभोक्ता का संतुलन उस समय होता है जब उपभोक्ता को प्राप्त कुल उपयोगिता के मौद्रिक मान और उस वस्तु पर उसके कुल व्यय के बीच का अन्तर अधिकतम हो।

: सरकार द्वारा नियत किसी वस्तु की कीमत, ये सामान्य रूप से संतुलन कीमत से कम रहती है।

: एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन का किसी अन्य वस्तु की माँग की मात्रा पर प्रभाव।

तिफल : सभी आदानों में एक निश्चित अनुपात में वृद्धि के बाद भी उत्पादन वृद्धि का उस अनुपात से कम रह जाना।

: निश्चित समय अवधि में वस्तु की वे मात्राएँ जिन्हें उपभोक्ता विभिन्न कीमतों पर खरीदने को तत्पर हो।

: वस्तु की कीमत और माँगी जा रही मात्रा के बीच संबंध दर्शाने वाला दाहिनी और ढलवाँ वक्र। इसे माँग सारणी का चित्रांकन भी कहते हैं।

माँग सारणी/तालिका/सूची : माँग के नियम की तालिका बद्ध अभिव्यक्ति।

व्युत्पन्न माँग : किसी संसाधन की माँग का उस द्वारा संसाधन उत्पादित वस्तुओं के बाजार में वस्तुओं की माँग पर निर्भर होने की विशेषता।

माँग के निर्धारक : ये अन्य वस्तुओं की कीमतों, आय, अभिरुचियाँ आदि कारक हैं जिनके प्रभाव से माँग वक्र में खिसकाव आ जाते हैं।

श्रम विभाजन : श्रमिकों में उनकी विशेष योग्यताओं के अनुसार कार्यों का बँटवारा।

घरेलू विनिमय दर/अनुपात : विदेशी व्यापार के अभाव में किसी देश में वस्तुओं के परस्पर विनिमय की दर।

लोचदार माँग : वह अवस्था जिसमें वस्तु की अपनी कीमत के प्रति माँग की लोच का मान इकाई से अधिक हो।

संतुलन कीमत : वह कीमत जिस पर माँग की मात्रा तथा आपूर्ति की मात्रा समान हो।

अतिरिक्त माँग : बाजार में माँग की मात्रा का आपूर्ति की मात्रा से अधिक होना।

उत्पादन शुल्क : फर्म की उत्पादन लागत के अनुपात में उसके उत्पादन पर लगाया गया कर ।

उत्पादन कर : यह उत्पादन शुल्क का ही दूसरा नाम है।

निर्यात : देश में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के एक अंश की शेष विश्व को बिक्री।

संसाधन निधि सिद्धांत : ये सिद्धांत विभिन्न देशों के बीच तुलनात्मक लाभों तथा अंतरराष्ट्रीय व्यापार के निर्धारण में उनके पास उपलब्ध पृथक-पृथक संसाधन भंडारों के अन्तरों को महत्त्वपूर्ण मानता है।

साधन कीमत रेखा : सरल रेखा जो यह दिखाती है कि साधन कीमत फर्म की आंतरिक निर्णय प्रक्रिया से बाहर निर्धारित होती है।

खाद्य आपूर्ति अपकर्ष सिद्धांत : इसके अनुसार अकालों का प्रमुख कारण खाद्य पदार्थों की उपलब्धता में भारी कमी होता है।

स्थिर लागत : वे लागतें जिन पर उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन का प्रभाव नहीं होता।

अपूर्ण प्रतियोगिता : ऐसा बाजार जिसमें पूर्ण प्रतियोगिता नहीं हो।

आयात : किसी देश द्वारा शेष विश्व से वस्तुओं और सेवाओं का क्रय।

पैमाने के वृद्धिमान प्रतिफल : सभी आदानों में समान अनुपात में वृद्धि के परिणामस्वरूप उत्पादन में उस अनुपात से अधिक वृद्धि होना।

बेलोच माँग : वह अवस्था जहाँ वस्तु की कीमत लोच इकाई से कम रह जाती है।

निकृष्ट पदार्थ : वे वस्तुएँ जिनकी माँग की मात्रा में आय में वृद्धि के कारण कमी आ जाती है।

अंतरराष्ट्रीय व्यापार : विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय।

श्रम गुणांक : एक इकाई उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की इकाइयों की संख्या।

श्रमिक संघ : अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में काम कर रहे श्रमिकों के संगठन।

माँग का नियम : अन्य बातें पूर्ववत रहने पर किसी वस्तु की कीमत में वृद्धि के कारण उसकी माँग की मात्रा में कमी आना।

ह्रासमान सीमांत उत्पादन नियम : यह ह्रासमान प्रतिफल नियम का ही एक अन्य नाम है।

ह्रासमान सीमांत उपयोगिता नियम : वस्तु के उपभोग में एक स्तर से आगे वृद्धि होने पर उसकी प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से हुई उपयोगिता में वृद्धि पिछली इकाई के कारण हुई वृद्धि से कम रह जाती है।

ह्रासमान प्रतिफल नियम : अन्य संसाधनों की मात्रा स्थिर रहते हुए एक साधन के प्रयोग में वृद्धि करने पर एक स्तर से आगे उसकी अतिरिक्त इकाइयों की सीमांत उत्पादिता में उत्तरोत्तर कमी आने लगती है।

आपूर्ति का नियम	:	अन्य बात अपरिवर्तित रहने पर किसी वस्तु की कीमत में वृद्धि के प्रभाव स्वरूप उसकी आपूर्ति की मात्रा में वृद्धि होती है।
परिवर्तनशील अनुपातों का नियम	:	इसमें उत्पादन प्रक्रिया के तीन सोपान दर्शाए जाते हैं। प्रथम सोपान में जब किसी संसाधन का प्रयोग काफी कम होता है तो इसकी MPP में वृद्धि की प्रवृत्ति दिखाई देती है। दूसरे सोपान में MPP में कमी आने लगती है, पर वह धनात्मक बनी रहती है। तीसरे सोपान में तो MPP ऋणात्मक हो जाती है।
समष्टि अर्थशास्त्र	:	अर्थव्यवस्था व्यापी समग्रवाची वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद, कुल राष्ट्रीय उत्पाद, रोजगार, कीमत स्तर आदि का अध्ययन।
सीमांत लागत	:	एक अतिरिक्त इकाई का उत्पाद करने पर कुल परिवर्ती लागत या कुल लागत में हुई वृद्धि।
एक उत्पादन संभावना वक्र पर किसी वस्तु की सीमांत अवसर लागत	:	यह एक वस्तु के उत्पादन में वृद्धि के कारण दूसरी वस्तु के परित्याग की दर है।
सीमांत भौतिक उत्पादन	:	अन्य आदानों का प्रयोग स्थिर रहने पर एक साधन की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल भौतिक उत्पादन में वृद्धि।
वितरण का सीमांत उत्पादिता सिद्धांत	:	प्रत्येक साधन को उसके सीमांत उत्पादन के मूल्य के समान प्रतिफल का भुगतान।
सीमांत प्रतिफल	:	यह सीमांत भौतिक उत्पादन के समान होता है।
किसी वस्तु के उपभोग से प्राप्त सीमांत उपयोगिता	:	किसी वस्तु की अंतिम इकाई की उपयोगिता।
एक रुपए की सीमांत उपयोगिता	:	सामान्यत: उपलब्ध वस्तुओं पर एक और रुपया खर्च करने से मिली उपयोगिता।
सीमांत आगम	:	वस्तु की एक और इकाई बेचने से कुल आगम में हुई वृद्धि ।

बाजार माँग वक्र : ये किसी क्षेत्र या अर्थव्यवस्था में किसी वस्तु का माँग वक्र होता है।

बाजार संतुलन : यह उस समय होता है जब माँगी गई मात्रा और आपूर्ति की गई मात्रा समान हों अर्थात, न अतिरिक्त माँग हो और न अतिरिक्त आपूर्ति।

बाजार काल : वह अल्पकालिक अवस्था जहाँ फर्म कीमत परिवर्तन की प्रतिक्रिया में अपने उत्पादन को बदल नहीं पाती, अर्थात, उसका उत्पादन स्थिर रहता है।

बाजार संरचना : यह फर्मों की संख्या, उनके बीच में प्रतियोगिता के स्वरूप और वस्तु की प्रकृति से संबद्ध है।

बाजार आपूर्ति वक्र : किसी क्षेत्र या अर्थव्यवस्था में किसी वस्तु की आपूर्ति वक्र को बाजार आपूर्ति वक्र कहते हैं।

व्यष्टि अर्थशास्त्र : यह व्यक्ति स्तरीय चयन एवं निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन है।

एकाधिकारी प्रतियोगिता : ऐसी बाजार संरचना जिसमें बहुत से विक्रेता विभेदित वस्तुओं का उत्पादन-विपणन कर रहे हों। इस बाजार में प्रवेश या निकासी पर कोई प्रतिबंध नहीं होता।

एकाधिकार : वह बाजार संरचना जहाँ किसी वस्तु का केवल एक विक्रेता हो।

अर्थ-अक्षम उद्योग : ऐसा उद्योग जिसमें धनात्मक स्तर पर उत्पादन करने की लागतें बहुत ऊँची होती हों।

सामान्य वस्तु : ऐसी वस्तु जिसकी माँग की मात्रा में आय में वृद्धि के कारण बढ़ोतरी होती है।

अवसर लागत : इसकी परिभाषा सामान्यत: किसी न किसी चयन विशेष के संदर्भ में की जाती है। यह निकटतम विकल्प के मूल्य मान के समान होती है।

उत्पादन : यह किसी वस्तु के निर्मित परिमाण/उगाई गई मात्रा के समान होता हैं।

उपरि लागतें : ये स्थिर लागतों के समान होती है।

पेटेंट जीवन/अवधि : वह अवधि जिसमें कोई पेटेंट वैध या मान्य रहता है।

पेटेंट अधिकार : किसी वस्तु या उत्पादन विधि के आविष्कार के दावे के आधार पर किसी व्यक्ति या कंपनी को उस वस्तु के उत्पादन का कानूनी एकाधिकार।

पूर्ण प्रतियोगिता : यह पूर्ण प्रतियोगी बाजार संरचना का ही दूसरा नाम है।

पूर्ण प्रतियोगी बाजार : ऐसा बाजार जिसमें क्रेताओं और विक्रेताओं की विशाल संख्या किसी समरूप वस्तु का लेन-देन करती है और जिसमें प्रवेश तथा निकासी की पूरी स्वतंत्रता होती है।

विश्वासोत्पादक विज्ञापन : किसी अन्य ब्रांड के ग्राहकों को अपनी ओर खींचने के विचार से किया गया विज्ञापन-प्रचार।

माँग की कीमत लोच : यह माँग की मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन और कीमत में प्रतिशत परिवर्तन के अनुपात के समान होती है।

आपूर्ति की कीमत लोच : आपूर्ति की मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन और कीमत में प्रतिशत परिवर्तन का अनुपात।

कीमत रेखा : प्रतियोगी फर्म के समक्ष प्रस्तुत क्षैतिज रेखा जो वस्तु की बाजार कीमत को दर्शाती है।

माँग की बिंदु लोच : किसी माँग वक्र पर अति अल्प कीमत परिवर्तन की दशा में लोचशीलता का माप।

उत्पादक का संतुलन : कुल लाभ के अधिकतम होने की स्थिति।

उत्पादन संभावना (सीमा) वक्र : वर्तमान प्रौद्योगिकी और संसाधनों के दक्षतापूर्ण प्रयोग की दशा में दो वस्तुओं के वे संयोजन जिनका उत्पादन संभव हो सकता है।

उत्पादन/वस्तु विभेदन : किसी मूल रूप से समान वस्तु के रंग-आकार आदि में अंतर कर उसे अलग-अलग नामों से बेचना।

उत्पाद फलन : यह एक प्रौद्योगिकीय संबंध है जो विभिन्न आदान संयोजनों से संभव किसी वस्तु के उत्पादन के अधिकतम स्तरों को दर्शाता है।

लाभ : कुल आगम–कुल लागत

सापेक्ष संसाधन निधि	:	ये दो परम संसाधन निधियों का अनुपात होती है।
साधन कीमतों में सापेक्ष अंतर	:	इसका आशय विभिन्न क्षेत्रों/देशों में साधन कीमत अनुपातों के अंतर से है।
किसी वस्तु की सापेक्ष कीमत	:	यह सदैव किसी अन्य वस्तु से तुलना के संदर्भ में प्रयोग होने वाली अवधारणा है। एक वस्तु की एक इकाई के बदले में विनिमय होने वाली दूसरी वस्तु की इकाइयों की संख्या ही इसका मान होती है।
पैमाने के प्रतिफल	:	आदानों के प्रयोग में समानुपाती परिवर्तनों के उत्पादन स्तर पर प्रभाव।
विक्रय लागतें	:	ये विज्ञापन लागतों के ही समान होती हैं।
समर्थन मूल्य/कीमत	:	(किसी वस्तु की) संतुलन कीमत से अधिक कीमत, जिसका निर्धारण सरकार करती है।
आपूर्ति वक्र	:	ऐसा वक्र जो विभिन्न कीमतों पर किसी वस्तु की विक्रय के लिए उपलब्ध कराई जा रही इकाइयों को दिखाता है। यह आपूर्ति के नियम को भी दर्शाता है (कि अधिक कीमत पर अधिक आपूर्ति होती है)।
आपूर्ति सारणी	:	यह आपूर्ति के नियम का तालिकाबद्ध स्वरूप है।
किसी वस्तु के उपभोग से प्राप्त कुल उपयोगिता	:	किसी भी वस्तु के निश्चित परिमाण के उपभोग से प्राप्त कुल मनोवैज्ञानिक संतुष्टि।
कुल लागत	:	यह सभी लागतों का योग है–अर्थात कुल स्थिर लागतों और कुल परिवर्ती लागतों का योगफल।
कुल स्थिर/अचल लागत	:	ये उन लागतों का योग है जिनमें उत्पादन की मात्रा के साथ-साथ उतार-चढ़ाव नहीं आते।
कुल भौतिक उत्पादन	:	अन्य आदान स्थिर रहने पर किसी साधन के प्रयोग के निश्चित स्तर से जुड़ा कुल उत्पादन।
कुल उत्पादन	:	यह कुल भौतिक उत्पादन के समान होता है।
कुल प्रतिफल	:	यह भी कुल भौतिक उत्पादन के समान होता हैं
कुल आगम	:	यह कीमत और बेची गई मात्रा का गुणनफल है।

कुल		दन।
कुल		वर्तित होने वाली सभी लागतों का योगफल है
श्रम संघ	:	श्रमिक संगठन/श्रमिक संघ का ही एक अन्य नाम।
ऐकिक लोचपूर्ण माँग	:	इसका आशय: उस अवस्था से होता है जब माँग की लोच का मान एक इकाई के समान हो।
सीमांत उत्पादन मूल्य	:	यह कीमत × सीमांत भौतिक उत्पादन के समान होता है।
परिवर्ती लागतें	:	ये उत्पादन स्तर के साथ परिवर्तित होने वाली लागतें हैं।
थोक की छूट	:	बड़ी मात्रा में एक साथ खरीदारी करने वाले को मिलने वाली कीमत में कटौती।
विश्व विनिमय दर/विश्व व्यापार की शर्तें	:	स्वतंत्र व्यापार की अवस्था में विश्व बाजार में वस्तुओं की विनिमय दर।